वैराग्य-शतक

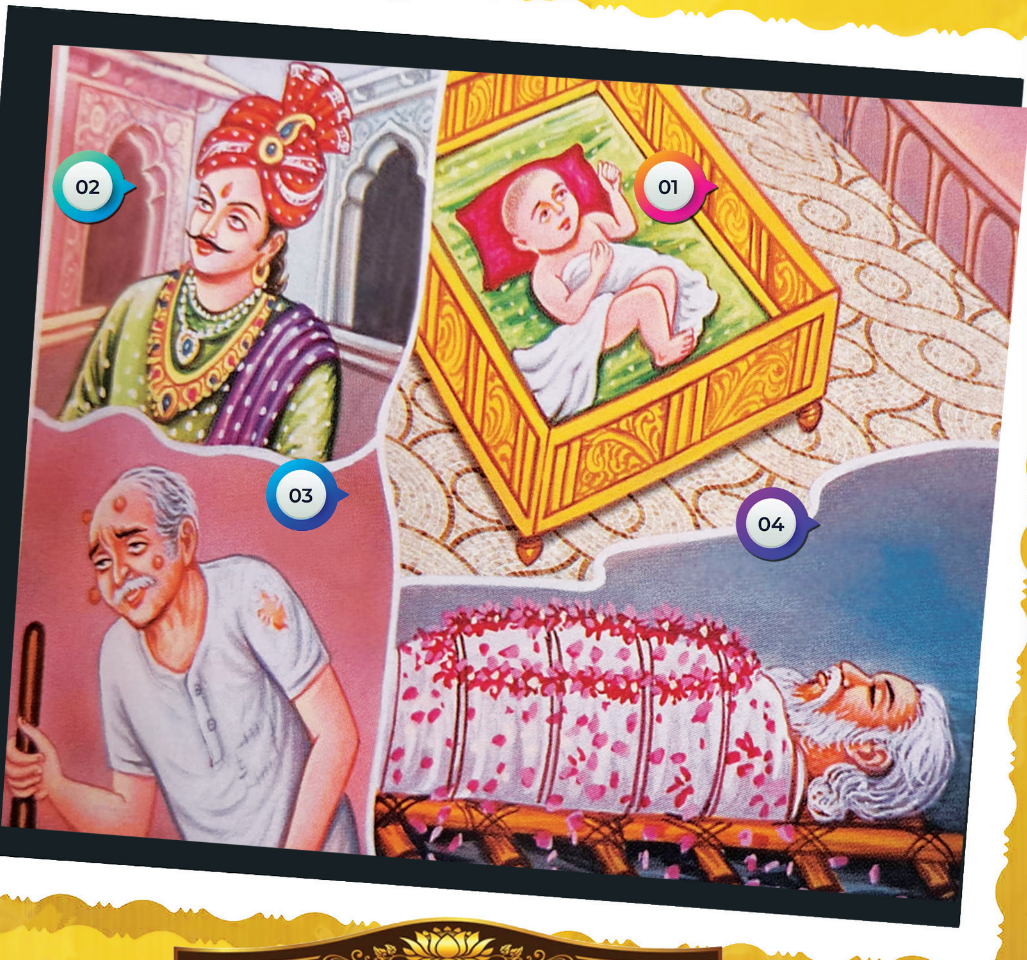

-: विवेचनकार :-

पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय

रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.

वैराग्य-शतक

विवेचनकार

व्याख्यान वाचस्पति, महाराष्ट्र देशोद्धारक,
पूज्यपाद आचार्यदेव
श्रीमद् विजय रामचंद्रसूरीश्वरजी म.सा. के
तेजस्वी शिष्यरत्न, बीसवीं सदी के महान् योगी,
नवकार-विशेषज्ञ, प्रशांतमूर्ति पूज्यपाद पंन्यासप्रवर
श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य के
कृपापात्र अंतिम शिष्यरत्न, मरुधररत्न, गोड़वाड के गौरव,
प्रवचन-प्रभावक, जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर पूज्य आचार्यदेव
श्रीमद् विजय **रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**

140

卐 प्रकाशन 卐

दिव्य सन्देश प्रकाशन
C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे.व्यु. बिल्डींग,
विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002.
Cell 8484848451 (only whatsapp)

चौथी आवृत्ति • प्रतियाँ 1000 • **मूल्य :** 140/- रु.
दि. 3-9-2023 • **विमोचन स्थल :** मुनिसुव्रत स्वामी जैन मंदिर श्वे.मू. जैन संघ, निगडी, (पूना)-411 044. • **Website :** Divyasandesh.online

आजीवन सदस्य योजना

आजीवन सदस्यता शुल्क - 3000/- रु.

• आप जैन धर्म के रहस्य-जैन इतिहास-जैन तत्त्वज्ञान-जैन आचार मार्ग, प्रेरणादायी कथाएँ आदि का अध्ययन करना चाहते हों तो आज ही आप दिव्य संदेश प्रकाशन मुम्बई की आजीवन सदस्यता प्राप्त कर लें। सदस्य बनते ही अध्यात्मयोगी निःस्पृह शिरोमणि स्व. पूज्यपाद पंन्यासप्रवर **श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्यश्री** एवं उन्हीं के चरम शिष्यरत्न प्रवचन प्रभावक परम पूज्य ***आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.*** द्वारा लिखित उपलब्ध 10 पुस्तकें दी जाएगी और **अर्हद् दिव्य संदेश** मासिक तथा भविष्य में हिन्दी भाषा में प्रकाशित पुस्तकें (Open Book Exam साधु–साध्वी उपयोगी पुस्तके एवं पुनः मुद्रित पुस्तकों को छोडकर) घर बैठे प्राप्त होगी। आप आजीवन सदस्यता शुल्क मुंबई या बैंगलोर के पते पर दिव्य संदेश प्रकाशन-मुंबई के नाम से चैक व ड्राफ्ट से भेजें।

प्राप्ति स्थान

1. चेतन हसमुखलालजी मेहता
भायंदर (M.S.)
M. 9867058940

2. प्रवीण गुरुजी
C/o. श्री आत्म कमल लब्धिसूरि जैन पुस्तकालय
श्री आदिनाथ जैन टेंपल,
चिकपेठ, बेंगलोर-560 053.
M. 9036810930

3. राहुल वैद
C/o. अरिहंत मेटल कं.,
4403, लोटन जाट गली,
पहाड़ी धीरज, सदर बाजार,
दिल्ली-110 006.
M. 9810353108

4. चंदन एजेन्सी
607, चीरा बाजार,
मुंबई-400 002.M.9820303451

आजीवन सदस्यता शुल्क

Rs. 3000/- भिजवाने का पता एवं पुस्तक-प्राप्ति-स्थान :

(1) दिव्य संदेश प्रकाशन

C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग,
विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी,
मुंबई-400 002. Mobile : 8484848451 (only whatsapp)

(2) दिव्य संदेश प्रचारक

प्रकाश बड़ोल्ला, 52, 3rd Cross, शंकरमट रोड, शंकरपुरा,
बैंगलोर-560 004. Tel. (O.) 4124 7478 M. 8971230600

प्रकाशक की कलम से...

मरुधर रत्न, गोडवाड के गौरव, हिन्दी साहित्यकार

पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा हिन्दी भाषा में विवेचित **'वैराग्य शतक'** हिन्दी विवेचन की चौथी आवृत्ति का प्रकाशन करते हुए हमें अत्यंत ही हर्ष हो रहा है।

अज्ञात पूर्वाचार्य द्वारा विरचित **'वैराग्य शतक'** ग्रंथ अपने नाम के अनुरुप ही वैराग्य भाव का पोषण करनेवाला अनमोल ग्रंथ हैं।

जिस प्रकार नीम के पत्ते के प्रत्येक भाग में कडवापन रहा होता है, समुद्र की हर बुंद में खारापन रहा होता है, उसी प्रकार इस ग्रंथ की प्रत्येक गाथा में वैराग्य रस टपक रहा है।

मुमुक्षु आत्माओं के लिए तो यह ग्रंथ अवश्य कंठस्थ करने योग्य है ही, परंतु जन साधारण के लिए भी इस ग्रंथ का स्वाध्याय खूब लाभकारी है। पाप के परिणामों की भयंकरता को समझने वाला भी वैराग्य भाव को पाए बिना नहीं रहता है।

लग भग 13 वर्ष पूर्व इस ग्रंथ के हिन्दी विवेचन की प्रथम आवृत्ति तथा उसके बाद द्वितीय तथा तृतीय आवृत्ति प्रकाशित हुई थी, इसकी बढती हुई मांग को देखकर इसका पुनः प्रकाशन कर रहे है।

संयम जीवन के स्वीकार के लिए **'वैराग्य'** महत्त्वपूर्ण है।

संयम जीवन के स्वीकार के बाद इस वैराग्य भाव को टिकाने के लिए वैराग्य पोषक ग्रंथों का स्वाध्याय खूब जरूरी है।

वर्तमान में वैराग्य पोषण के लिए वैराग्य शतक, इन्द्रिय पराजय शतक तथा संबोह सित्तरि ग्रंथ खूब प्रसिद्ध है। प्राकृत भाषा में विरचित इन ग्रंथों पर पूज्यश्री ने बहुत ही सुंदर हिन्दी विवेचन तैयार किया है।

हमारी संस्था की ओर से इन तीनों ग्रंथों के हिन्दी विवेचन प्रकाशित हो चूके हैं, जो खूब लोकप्रिय बने है। इन ग्रंथों का स्वाध्याय कर सभी मुमुक्षु आत्माएं मुक्ति पथ पर अग्रेसर बने, इसी शुभ कामना के साथ !

विवेचनकार की कलम से....

प्रार्थना-सूत्र में परमात्मा के पास सबसे पहली प्रार्थना **'भव-निव्वेओ'** अर्थात् भव-निर्वेद की गई है । भव-निर्वेद अर्थात् संसार के सुखों के प्रति वैराग्य भाव । वैराग्य के अभाव में किया गया संसार-त्याग भी वास्तविक त्याग नहीं है ।

महल बनाने के लिए सर्व प्रथम नींव को मजबूत करना, बहुत जरुरी होता है । उसी प्रकार मुक्ति रुपी इमारत को खड़ी करने के लिए सम्यक्त्व की नींव को मजबूत करना बहुत जरुरी है ।

सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए **'भव-निर्वेद'** बहुत ही जरुरी है ।

बस, इसी वैराग्य भाव को पुष्ट करने के लिए ही पूर्वाचार्य महर्षियों ने संस्कृत-प्राकृत भाषा में अनेकानेक ग्रंथों का सर्जन किया है ।

किसी अज्ञात पूर्वाचार्य महर्षि ने प्रस्तुत **'वैराग्य शतक'** ग्रंथ की रचना की है ।

सामान्यतया किसी भी ग्रंथ की समाप्ति में ग्रंथ रचयिता के नाम का निर्देश होता है, परंतु प्रस्तुत ग्रंथ की समाप्ति में कहीं किसी नाम का उल्लेख नहीं है अर्थात् यह अज्ञात कर्तृक रचना है । इस ग्रंथ में आगमों की कई गाथाओं का संग्रह हैं, अत: इसे संग्रह-ग्रंथ भी कह सकते है ।

जिनेश्वर भगवंत के वचनों पर पूर्ण श्रद्धा और विश्वास रखकर इस ग्रंथ का स्वाध्याय किया जाय तो संसार के प्रति वैराग्य भाव पुष्ट हुए बिना नहीं रहेगा ।

वर्तमान जैन संघ में कई साधु-साध्वीजी एवं मुमुक्षु इस ग्रंथ को कंठस्थ भी करते है ।

प्रस्तुत ग्रंथ प्राकृत भाषा में है । प्राकृत भाषा के अभ्यासी तो इसे सरलता से समझ सकते है, परन्तु जो प्राकृत भाषा से अनभिज्ञ है, उनके लिए प्रादेशिक भाषा के अर्थ-विवेचन की अपेक्षा रहती है । गुजराती-मराठी आदि प्रांतीय भाषाएं हैं, जो भारत देश के निश्चित प्रांत में ही चलती है, बस, इसी Angle को ध्यान में रखकर अधिकांश लोग इस ग्रंथ से लाभान्वित हो सके, इसी ध्येय से हिन्दी भाषा में यह संक्षिप्त विवेचन तैयार किया है ।

इसमें जो कुछ शुभ हैं, वह परमोपकारी, वात्सल्य के महासागर, बीसवीं सदी के महान योगी, नि:स्पृह शिरोमणि पूज्यपाद गुरुदेव **पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** श्री की अनराधार बरसती कृपा-वर्षा का ही फल है । उनकी कृपा सदैव बरसती रहे, यही अन्तर मन की अभिलाषा है ।

छद्मस्थतावश इसमें कहीं भी त्रुटियाँ रह गई हो तो त्रिविध-त्रिविध **मिच्छा मि दुक्कडम् !**

असाढ सुदी-3,
वि.सं. 2073,
आराधना भवन,
वी.वी. पुरम्,
बेंगलोर (कर्णाटक)

निवेदक :
अध्यात्मयोगी पूज्य गुरुदेव
पंन्यास प्रवर
श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य
कृपाकांक्षी **आचार्य विजय रत्नसेनसूरि**

परम पूज्य आचार्यदेव श्रीमद् विजय
रत्नसेनसूरीश्वरजी म. सा. का संक्षिप्त परिचय

गृहस्थ नाम	: राजु (राजमल चोपड़ा)
माता का नाम	: चंपाबाई
पिता का नाम	: छगनराजजी गेनमलजी चोपड़ा
जन्मभूमि	: बाली (राज.)
जन्मतिथि	: भादों सुद-3, संवत् 2014 दि. 16-9-1958
बचपन में धार्मिक अभ्यास	: पंच प्रतिक्रमण-नवस्मरण आदि
ब्रह्मचर्यव्रत स्वीकार	: 18 जून 1974
व्यावहारिक अभ्यास	: 1st year B.Com. (श्री पार्श्वनाथ उम्मेद कॉलेज फालना-राज.)
दीक्षादाता	: पू.पं. श्री हर्षविजयजी गणिवर्य
गुरुदेव	: अध्यात्मयोगी नि:स्पृह शिरोमणि पूज्यपाद **पंन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य**
दीक्षादिवस	: माघ शुक्ला 13, विक्रम संवत् 2033 दि. 2-2-1977
समुदाय	: परम शासन प्रभावक पूज्यपाद आचार्यदेव **श्रीमद् विजय रामचन्द्रसूरीश्वरजी म.सा.**
दीक्षादिवस विशेषता	: भारत भर में लगभग 50 से अधिक दीक्षाएँ
108 मुमुक्षु वरघोड़ा	: 9 जनवरी 1977, मुंबई
दीक्षा स्थल	: न्याति नोहरा-बाली राज.
दीक्षा समय उम्र	: 18 वर्ष 4 मास
बड़ी दीक्षा	: फाल्गुन शुक्ला 12, वि.संवत् 2033, दि.1-3-1977
बड़ी दीक्षा स्थल	: घाणेराव (राज.)
प्रथम चातुर्मास	: संवत् 2033 पाटण पू.पं. श्री हर्षविजयजी के सान्निध्य में

- **अभ्यास :** चार प्रकरण, तीन भाष्य, 6 कर्मग्रंथ, कम्मपयडी, पंचसंग्रह, न्याय, काव्य, कोश, संस्कृत-प्राकृत व्याकरण, संस्कृत-प्राकृत साहित्य वाचन, ज्योतिष, आगम वाचन आदि.
- **भाषाबोध :** हिन्दी, अंग्रेजी, गुजराती, राजस्थानी, संस्कृत, प्राकृत, मराठी आदि
- **प्रथम प्रवचन :** फाल्गुन सुदी 14, विक्रम संवत् 2034 पाटण (गुजरात)

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन प्रारंभ :** बाली, विक्रम संवत् 2038

◆ **चातुर्मासिक प्रवचन :** बाली (दो बार), पाली (दो बार), रतलाम, अहमदाबाद (ज्ञानमंदिर), पाटण, सुरेन्द्रनगर, रानीगाँव, पिंडवाड़ा, उदयपुर, जामनगर, अहमदाबाद (गिरधरनगर), थाणा, कल्याण, दादर (मुंबई), सायन (मुंबई), धूलिया, कराड़, चिंचवड़, भायंदर, पूना, येरवड़ा, दीपक ज्योति टॉवर, श्रीपाल नगर, कर्जत, भिवंडी (दो बार), कल्याण (दो बार), रोहा, भायंदर (तीन बार), पालीताणा (दो बार), नासिक, बेंगलोर, मैसूर, कोयम्बतूर, चैन्नई, बीजापूर, निगडी (पूना)।

◆ **विहार क्षेत्र :** राजस्थान, गुजरात, मध्यप्रदेश, महाराष्ट्र, कर्णाटक, तामिलनाडु आदि

◆ **पाद विहार :** आजतक लगभग 45,000 K.M.

◆ **छ'री पालक निश्रादाता :** उदयपुर से केशरियाजी, गिरधरनगर से शंखेश्वर, धूलिया से नेर, कराड़ से कुंभोज, सोलापुर से बार्शी, भिवंडी से महावीर धाम, कर्जत से मानस मंदिर, हस्तगिरि से शत्रुंजय-गिरनार, सेवाडी से राणकपूर पंचतीर्थी शत्रुंजय बारह गाऊ, बेंगलोर से सुशीलधाम, कोयम्बत्तूर से अव्वलपुंदरी।

◆ **प्रथम पुस्तक आलेखन :** **वात्सल्य के महासागर** संवत् 2038

◆ **अद्यावधि प्रकाशित पुस्तकें :** 237

◆ **संस्कृत साहित्य संपादन-सह संपादन :** सिद्ध हैमशब्दानुशासनम्-बृहद्वृत्ति लघु न्यास सह, पांडवचरित्र आदि

◆ **शिष्य-प्रशिष्य :** **स्व.मु.श्री उदयरत्नविजयजी, स्व.मुनि केवलरत्नविजयजी, स्व. मुनि कीर्तिरत्नविजयजी, मुनि प्रशांतरत्नविजयजी, मुनि शालिभद्रविजयजी, मुनि स्थूलभद्रविजयजी, स्व. मुनि यशोभद्रविजयजी, बालमुनि श्री विमलपुण्यविजयजी म., मुनि श्री निर्वाणभद्रविजयजी म.।**

◆ **उपधान निश्रा दाता :** कुर्ला, धुले, येरवडा, आदीश्वर धाम (दो), कर्जत, विक्रोली, मोहना, पालीताणा (दो बार), सेसली, कीर्तिस्तंभ (घाणेराव) नासिक, सुशीलधाम (बेंगलोर), मैसूर, महावीर धाम (मुंबई)।

◆ **गणि पदवी :** वैशाख वदी-6, संवत् 2055, दि.7-5-1999 चिंचवड गाँव, पूना।

◆ **पंन्यास पदवी :** कार्तिक वदी-5, संवत् 2061, दि.2-12-2004 श्रीपालनगर, मुंबई।

◆ **आचार्य पदवी :** पौष वदी-1, संवत् 2067, दि.20-1-2011 थाणा।

वैराग्य-शतक

संसारम्मि असारे, नत्थि सुहं वाहि-वेअणा-पउरे ।
जाणंतो इह जीवो, न कुणइ जिणदेसिअं धम्मं ।।1।।

अज्जं कल्लं परं परारिं, पुरिसा चिंतंति अत्थसंपत्तिं ।
अंजलिगयं व तोयं, गलंतमाउं न पिच्छंति ।।2।।

जं कल्ले कायव्वं, तं अज्जं चिय करेह तुरमाणा ।
बहुविग्घो हु मुहुत्तो, मा अवरण्हं पडिक्खेह ।।3।।

ही संसार-सहावं, चरियं नेहाणुराग रत्ता वि ।
जे पुव्वण्हे दिट्ठा, ते अवरण्हे न दीसंति ।।4।।

मा सुयह जग्गियव्वे, पलाइयव्वंमि कीस वीसमेह ?
तिन्नि जणा अणुलग्गा, रोगो अ जरा अ मच्चू अ ।।5।।

दिवस-निसा-घडिमालं, आउस्सलिलं जिआण घित्तूणं ।
चंदाइच्चबइल्ला, कालऽरहट्टं भमाडंति ।।6।।

सा नत्थि कला तं नत्थि, उसहं तं नत्थि किं पि विन्नाणं ।
जेण धरिज्जइ काया, खज्जंती कालसप्पेण ।।7।।

दीहरफणिंदनाले, महियर-केसर-दिसा-महदलिल्ले ।
उअपिअइ कालभमरो, जणमयरंदं पुहवि-पउमे ।।8।।

छायामिसेण कालो, सयलजिआणं छलं गवेसंतो ।
पासं कह वि न मुंचइ, ता धम्मे उज्जमं कुणह ।।9।।

कालम्मि अणाईए, जीवाणं विविह-कम्म-वसगाणं,
तं नत्थि संविहाणं, संसारे जं न संभवइ ।।10।।

बंधवा सुहिणो सव्वे, पिअ-माया-पुत्त-भारिया ।
पेयवणाउ नियत्तंति, दाऊणं सलिलंजलिं ।।11।।

विहडंति सुआ विहडंति, बंधवा वल्लहा य विहडंति ।
इक्को कह वि न विहडइ, धम्मो रे जीव ! जिण-भणिओ ।।12।।

अडकम्म-पासबद्धो, जीवो संसार-चारए ठाइ ।
अडकम्म-पासमुक्को, आया सिवमंदिरे ठाइ ।।13।।

विहवो सज्जणसंगो, विसयसुहाइं विलासललिआइं ।
नलिणी-दलग्ग-घोलिर-जललव परिचंचलं सव्वं ।।14।।

तं कत्थ बलं तं कत्थ, जुव्वणं अंगचंगिमा कत्थ ?
सव्वमणिच्चं पिच्छह, दिट्ठं नट्ठं कयंतेण ।।15।।

घण-कम्म-पास-बद्धो, भवनयर चउप्पहेसु विविहाओ ।
पावइ विडंबणाओ, जीवो को इत्थ सरणं से ? ।।16।।

घोरंम्मि गब्भवासे, कलमल-जंबाल-असुइ-बीभच्छे ।
वसिओ अणंतखुत्तो, जीवो कम्माणु-भावेण ।।17।।

चुलसीई किर लोए, जोणीणं पमुह-सय-सहस्साइं ।
इक्किक्कंमि अ जीवो, अणंतखुत्तो समुप्पन्नो ।।18।।

माया-पिय-बंधूहिं, संसारत्थेहिं पूरिओ लोओ ।
बहुजोणि-निवासीहिं, न य ते ताणं च सरणं च ।।19।।

जीवो वाहि-विलुत्तो, सफरो इव निज्जले तडप्फडइ ।
सयलो वि जणो पिच्छइ, को सक्को वेयणा-विगमे ? ।।20।।

मा जाणसि जीव ! तुमं, पुत्त-कलत्ताइ मज्झ सुहहेउ ।
निउणं बंधण-मेयं, संसारे संसरंताणं ।।21।।

जणणी जायइ जाया, जाया माया पिया य पुत्तो य ।
अणवत्था संसारे, कम्म-वसा सव्व-जीवाणं ।।22।।

न सा जाइ न सा जोणी, न तं ठाणं न तं कुलं ।
न जाया न मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणंतसो ।।23।।

तं किंपि नत्थि ठाणं, लोए वालग्ग-कोडिमित्तं पि ।
जत्थ न जीवा बहुसो, सुह-दुक्ख-परंपरा पत्ता ।।24।।

सव्वाओ रिद्धिओ, पत्ता सव्वे वि सयण-संबंधा ।
संसारे ता विरमसु, तत्तो जइ मुणसि अप्पाणं ।।25।।

एगो बंधइ कम्मं, एगो वह-बंध-मरण-वसणाइं ।
विसहइ भवम्मि भमडइ, एगुच्चिय कम्म-वेलविओ ।।26।।

अन्नो न कुणइ अहियं, हियं पि अप्पा करेइ न हु अन्नो ।
अप्पकयं सुहदुक्खं, भुंजसि ता कीस दीणमुहो ? ।।27।।

बहु-आरंभ-विढत्तं, वित्तं विलसंति जीव सयण-गणा ।
तज्जणिय-पाव-कम्मं, अणुहवसि पुणो तुमं चेव ।।28।।

अह दुक्खिआइं तह भुक्खिआइं, जह चिंतिआइं डिंभाइं ।
तह थोवं पि न अप्पा, विचिंतिओ जीव ! किं भणिमो ? ||29||

खणभंगुरं शरीरं, जीवो अन्नो य सासय-सरूवो ।
कम्मवसा संबंधो, निब्बंधो इत्थ को तुज्झ ? ||30||

कह आयं कह चलियं, तुमं पि कह आगओ कहं गमिही ।
अन्नुन्नंपि न याणह, जीव ! कुडुंबं कओ तुज्झ ? ||31||

खणभंगुरे सरीरे, मणुअभवे अब्भपडल-सारिच्छे ।
सारं इत्तिय-मेत्तं, जं किरइ सोहणो धम्मो ||32||

जम्मदुक्खं जरादुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो ! दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतुणो ||33||

जाव न इंदिय-हाणी, जाव न जर-रक्खसी परिप्फुरइ ।
जाव न रोगविआरा, जाव न मच्चू समुल्लिअइ ||34||

जह गेहम्मि पलित्ते, कूवं खणिउं न सक्कए कोइ ।
तह संपत्ते मरणे, धम्मो कह कीरए जीव ! ||35||

रूवम-सासय-मेयं, विज्जुलया-चंचलं जए जीयं ।
संझाणुराग-सरिसं, खण-रमणीयं च तारुन्नं ||36||

गय-कन्न-चंचलाओ, लच्छीओ तिअस-चाव-सारिच्छं ।
विसयसुहं जीवाणं, बुज्झसु रे जीव ! मा मुज्झ ||37||

जह संझाए सउणाण संगमो जह पहे अ पहियाणं ।
सयणाणं संजोगो, तहेव खण-भंगुरो जीव ! ||38||

निसा-विरामे परि-भावयामि, गेहे पलित्ते किमहं सुयामि ।
डज्झंत-मप्पाण-मुविक्खयामि, जं धम्म-रहिओ दिअहा गमामि ||39||

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडि-नियत्तइ ।
अहम्मं कुण-माणस्स, अहला जंति राइओ ||40||

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं ।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ||41||

दंडकलियं करिंता, वच्चंति हु राइओ य दिवसा य ।
आउसं संविलंता, गयावि न पुणो नियत्तंति ||42||

जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं णेइ हु अंतकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालंमि तंमि सहरा भवंति ||43||

जीअं जलबिंदु-समं, संपत्तीओ तरंग-लोलाओ ।
सुमिणय-समं च पिम्मं, जं जाणसु तं करिज्जासु ।।44।।
संझराग-जल-बुब्बु-ओवमे, जीविए य जलबिंदुचंचले ।
जुव्वणे य नइवेग-संनिभे, पावजीव ! किमियं न बुज्झसे ? ।।45।।
अन्नत्थ सुआ अन्नत्थ, गेहिणी परिअणोऽवि अन्नत्थ ।
भूअबलिव्व कुडुंबं, पक्खितं हयकयंतेण ।।46।।
जीवेण भवे भवे मिलियाइँ देहाइँ जाइँ संसारे ।
ताणं न सागरेहिं, कीरइ संखा अणंतेहिं ।।47।।
नयणोदयंपि तासिं, सागर सलिलाउ बहुयरं होइ ।
गलियं रुअ-माणीणं, माऊणं अन्न-मन्नाणं ।।48।।
जं नरए नेरइया, दुहाइँ पावंति घोर-णंताइं ।
तत्तो अणंतगुणियं, निगोअ-मज्झे दुहं होइ ।।49।।
तंमि वि निगोअ मज्झे, वसिओ रे जीव ! विविह-कम्म-वसा ।
विसहंतो तिक्खदुहं, अणंत पुग्गल परावत्ते ।।50।।
निहरीअ कह वि तत्तो, पत्तो मणुयत्तणं पि रे जीव !
तत्थ वि जिणवर-धम्मो, पत्तो चिंतामणि-सरिच्छो ।।51।।
पत्ते वि तंमि रे जीव ! कुणसि पमायं तुमं तयं चेव ।
जेण भवंध-कूवे, पुणो वि पडिओ दुहं लहसि ।।52।।
उवलद्धो जिणधम्मो, न य अणुचिण्णो पमाय-दोसेणं ।
हा ! जीव ! अप्पवेरिअ, सुबहुं पुरओ विसूरिहिसि ।।53।।
सोयंति ते वराया, पच्छा समुवट्ठियंमि मरणंमि ।
पाव-पमाय-वसेणं, न संचिओ जेहिं जिणधम्मो ।।54।।
धी धी धी संसारं, देवो मरिऊण जं तिरी होइ ।
मरिऊण रायराया, परिपच्चइ निरय-जालाहिं ।।55।।
जाइ अणाहो जीवो, दुमस्स पुप्फं व कम्मवाय-हओ ।
धण-धन्ना-हरणाइं, घर-सयण-कुडुंब-मिल्हे वि ।।56।।
वसियं गिरीसु वसियं, दरीसु वसियं समुद्द-मज्झंम्मि ।
रुक्खग्गेसु य वसियं संसारे संसरंतेणं ।।57।।
देवो नेरइउ त्ति य, कीडपयंगु त्ति माणुसो एसो ।
रूवस्सी य विरूवो, सुहभागी दुक्खभागी य ।।58।।

राउत्ति य दमगुत्ति य, एस सवागुत्ति एस वेयविऊ ।
सामी दासी पुज्जो, खलोत्ति अधणो धणवइत्ति ।।59।।

नवि इत्थ कोइ नियमो, सकम्म-विणि-विट्ठ-सरिस-कय-चिट्ठो ।
अन्नुन्नरूववेसो, नडुव्व परिअत्तए जीवो ।।60।।

नरएसु वेयणाओ, अणोवमाओ असायबहुलाओ ।
रे जीव ! तए पत्ता, अणंतखुत्तो बहुविहाओ ।।61।।

देवत्ते मणुअत्ते, पराभि-ओगत्तणं उवगएणं ।
भीसण-दुहं बहुविहं, अणंत-खुत्तो समणुभूयं ।।62।।

तिरियगइं अणुपत्तो, भीम-महा-वेयणा अणेग-विहा ।
जम्मण-मरणऽरहट्टे, अणंतखुत्तो परिब्भमिओ ।।63।।

जावंति के वि दुक्खा, सारीरा माणसा व संसारे ।
पत्तो अणंत-खुत्तो, जीवो संसार-कंतारे ।।64।।

तण्हा अणंत-खुत्तो संसारे तारिसी तुमं आसी ।
जं पसमेउं सव्वो-दहीण-मुदयं न तिरिज्जा ।।65।।

आसी अणंतखुत्तो, संसारे ते छुहा वि तारिसिया ।
जं पसमेउं सव्वो, पुग्गलकाओ वि न तिरिज्जा ।।66।।

काऊण-मणेगाइं जम्मण-मरण-परियट्टण-सयाइं ।
दुक्खेण माणुसत्तं, जइ लहइ जहिच्छियं जीवो ।।67।।

तं तह दुल्लह-लंभं, विज्जुलया चंचलं च मणुअत्तं ।
धम्मंमि जो विसीयइ, सो काउरिसो न सप्पुरिसो ।।68।।

माणुस्स जम्मे तडिलद्धयंमि, जिणिंद-धम्मो न कओ य जेणं ।
तुट्टे गुणे जह धाणुक्कएणं, हत्था मल्लेव्वा य अवस्स तेणं ।।69।।

रे जीव निसुणि चंचल सहाव, मिल्लेवि णु सयल वि बज्झभाव ।
नव भेय परिग्गह विविह जाल, संसारि अत्थि सहुइंदयाल ।।70।।

पिय पुत्त मित्तघर घरणिजाय, इहलोइअ सव्व नियसुह सहाय ।
नवि अत्थि कोइ तुह सरणि मुक्ख, इक्कल्लु सहसि तिरिनिरय दुक्ख ।।71।।

कुसग्गे जह ओसबिंदुए थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।
एवं मणुआण जीविअं, समयं गोयम ! मा पमायए ।।72।।

संबुज्झह किं न बुज्झह ? संबोहि खलु पिच्च दुल्लहा ।
नो हु उवणमंति राइओ, नो सुलहं पुणरवि जीवियं ।।73।।

डहरा वुड्ढा य पासह, गब्भत्था वि चयंति माणवा ।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवमाउ-खयंमि तुट्टइ ।।74।।

तिहुयण-जणं मरंतं, दट्ठूण नयंति जे न अप्पाणं ।
विरमंति न पावाओ, धी धी धिट्टत्तणं ताणं ।।75।।

मा मा जंपह बहुअं, जे बद्धा चिक्कणेहिं कम्मेहिं ।
सव्वेसिं तेसिं जायइ, हियो-वएसो महा-दोसो ।।76।।

कुणसि ममत्तं धण-सयण-विहव-पमुहेसु-ऽणंत दुक्खेसु ।
सिढिलेसि आयरं पुण, अणंत-सुक्खंमि मुक्खंमि ।।77।।

संसारो दुहहेऊ, दुक्खफलो दुसह-दुक्खरूवो य ।
न चयंति तं पि जीवा, अइबद्धा नेहनिअलेहिं ।।78।।

नियकम्म-पवण-चलिओ, जीवो संसार-काणणे घोरे ।
का का विडंबणाओ, न पावए दुसह-दुक्खाओ ।।79।।

सिसिरंमि सीयलानिल-लहरि-सहस्सेहि भिन्न-घणदेहो ।
तिरियत्तणंमि रण्णे, अणंतसो निहण-मणुपत्तो ।।80।।

गिम्हायव-संतत्तो, रण्णे छुहिओ पिवासिओ बहुसो ।
संपत्तो तिरियभवे, मरणदुहं बहु विसूरंतो ।।81।।

वासासुऽरण्णमज्झे, गिरि-निज्झरणो-दगेहि वज्झंतो ।
सीआनिल-डज्झविओ, मओसि तिरियत्तणे बहुसो ।।82।।

एवं तिरिय-भवेसु, कीसंतो दुक्ख-सय-सहस्सेहिं ।
वसिओ अणंत-खुत्तो, जीवो भीसण-भवारण्णे ।।83।।

दुट्ठट्ठकम्म-पलया-निलपेरिउ भीसणंमि भवरण्णे ।
हिंडंतो नरएसु वि, अणंतसो जीव ! पत्तोसि ।।84।।

सत्तसु नरय-महीसु, वज्जानलदाह सीअविअणासु ।
वसिओ अणंतखुत्तो, विलंवतो करुणसद्देहिं ।।85।।

पिय माय सयण रहिओ, दुरंत वाहीहिं पीडिओ बहुसो ।
मणुयभवे निस्सारे, विलविओ किं न तं सरसि ।।86।।

पवणुव्व गयण मग्गे, अलक्खिओ भमइ भववणे जीवो ।
ठाणट्ठाणंमि समुज्झिऊण, धण-सयण-संघाए ।।87।।

विद्धिज्जंता असयं, जम्म-जरा-मरण-तिक्खकुंतेहिं ।
दुह-मणुहवंति घोरं, संसारे संसरंत जिया ।।88।।

तहवि खणंपि कयावि हु, अन्नाण-भुअंग-डंकिआ जीवा ।
संसार-चारगाओ, न य उव्विज्जंति मूढमणा ।।89।।

कीलसि कियंत-वेलं, सरीर-वावीइ जत्थ पइ समयं ।
कालरहट्ट-घडीहिं, सोसिज्जइ जीविअंभोहं ।।90।।

रे जीव ! बुज्झ मा मुज्झ, मा पमायं करेसि रे पाव !
किं परलोए गुरु-दुक्ख-भायणं होहिसि ? अयाण ! ।।91।।

बुज्झसु रे जीव ! तुमं, मा मुज्झसु जिणमयंमि नाऊणं ।
जम्हा पुणरवि एसा, सामग्गी दुल्लहा जीव ! ।।92।।

दुलहो पुण जिणधम्मो, तुमं पमायायरो सुहेसी य ।
दुसहं च नरयदुक्खं, कह होहिसि तं न याणामो ।।93।।

अथिरेण थिरो समलेण, निम्मलो परवसेण साहीणो ।
देहेण जइ विढप्पइ, धम्मो ता किं न पज्जत्तं ।।94।।

जह चिंतामणिरयणं, सुलहं न हु होइ तुच्छ-विहवाणं ।
गुण-विहव-वज्जियाणं, जियाण तह धम्मरयणं पि ।।95।।

जह दिट्ठी-संजोगो, न होइ जच्चंधयाण-जीवाणं ।
तह जिणमय-संजोगो, न होइ मिच्छंध-जीवाणं ।।96।।

पच्चक्खंमणंत गुणे, जिणिंदधम्मे न दोसलेसोऽवि ।
तहवि हु अन्नाणंधा, न रमंति कयावि तम्मि जिया ।।97।।

मिच्छे अणंतदोसा, पयडा दीसंति न वि य गुणलेसो ।
तह वि य तं चेव जिया, ही मोहंधा निसेवंति ।।98।।

धी धी ताण नराणं, विन्नाणे तह गुणेसु कुसलत्तं ।
सुह-सच्च-धम्म-रयणे, सुपरिक्खं जे न जाणंति ।।99।।

जिणधम्मोऽयं जीवाणं, अपुव्वो कप्प-पायवो ।
सग्गा-पवग्ग-सुक्खाणं, फलाणं दायगो इमो ।।100।।

धम्मो बंधू सुमित्तो य, धम्मो य परमो गुरु ।
मुक्खमग्ग पयट्टाणं, धम्मो परम-संदणो ।।101।।

चउगइऽणंत-दुहानल-पलित्त भवकाणणे महाभीमे ।
सेवसु रे जीव ! तुमं, जिणवयणं अमियकुंडसमं ।।102।।

विसमे भव-मरुदेसे, अणंत-दुह-गिम्ह-ताव-संतत्ते ।
जिण-धम्म-कप्प-रुक्खं, सरसु तुमं जीव सिवसुहदं ।।103।।

किं बहुणा जिणधम्मे, जइयव्वं जह भवोदहिं घोरं ।
लहु तरिय मणंतसुहं, लहइ जिओ सासयं ठाणं ।।104।।

संसारम्मि असारे, नत्थि सुहं वाहि-वेअणा-पउरे ।
जाणंतो इह जीवो, न कुणइ जिणदेसिअं धम्मं ।।1।।

शब्दार्थ

संसारम्मि=संसार में,	**जाणंतो**=जानता हुआ भी,
असारे=असार,	**इह**=यह (इस बात को),
नत्थि=नहीं है,	**जीवो**=जीवात्मा,
सुहं=सुख,	**न कुणइ**=आचरण नहीं करता है,
वाहि=व्याधि,	**जिणदेसिअं**=जिनेश्वर भगवंत द्वारा निर्दिष्ट,
वेअणा=वेदना,	**धम्मं**=धर्म ।
पउरे=प्रचुर	

अर्थ : व्याधि-वेदना से प्रचुर इस असार-संसार में लेश भी सुख नहीं है...यह जानते हुए भी जीवात्मा जिनेश्वर भगवन्त द्वारा निर्दिष्ट धर्म का आचरण नहीं करता है ।

विवेचन : ग्रन्थकार महर्षि कहते हैं कि यह समस्त संसार नानाविध दु:खों से भरा हुआ है। संसार में जन्म की पीड़ा है, जरा अवस्था की पीड़ा है, रोग-शोक की पीड़ा है और मरण की पीड़ा है । जब तक आत्मा कर्म-बन्धन से सर्वथा मुक्त नहीं बनती है, तब तक आत्मा को इस संसार में जन्म धारण करना ही पड़ता है । जन्म के साथ मृत्यु जुड़ी हुई है ।

जिसका जन्म है, उसका मरण अनिवार्य है । परन्तु हर मरण के बाद जन्म जरुरी नहीं है। आत्म-साधना के बल से जो आत्माएँ कर्मबन्धन से मुक्त हो जाती हैं, उन आत्माओं की मृत्यु अन्तिम होती है...परन्तु उन्हें पुन: जन्म धारण करना नहीं पड़ता है ।

कर्मबन्धन से मुक्त बनी आत्माएँ मृत्यु पर विजय पा लेती हैं, वे सदा के लिए अजर-अमर बन जाती हैं। जीवन की शाश्वतता के साथ-साथ वे अव्याबाध सुख के सागर में सदा काल लीन बन जाती हैं और केवलज्ञान रूपी चक्षु के द्वारा परिवर्तनशील जगत् के समस्त भावों को हस्तामलकवत् प्रत्यक्ष देखती हैं। दूसरी ओर अनन्त ज्ञान और अनन्त सुख की स्वामी होने पर भी स्व-स्वभाव की अज्ञानता / मोह के कारण यह आत्मा दुनिया के क्षणिक भोग सुखों में आसक्त बनती है, जिसके

परिणाम स्वरूप नये-नये कर्मों का बन्ध करती है...और वे कर्म जब उदय में आते हैं, तब नाना प्रकार के भयंकर दु:ख सहन करती है ।

जरा, शास्त्र-चक्षु से दृष्टिपात करें नरक के जीवों पर । `ओहो ! कैसी भयंकर यातनाएँ वे सहन कर रहे हैं ! परमाधामी देव इन नारक जीवों को सतत दु:ख पहुँचा रहे हैं ! तलवार जैसे तीक्ष्ण हथियारों से उन्हें चीर रहे हैं...भयंकर अग्नि में डाल रहे हैं...अत्यन्त दुर्गन्धमय वैतरणी नदी में डुबो रहे हैं ।'

नरक में क्षेत्रकृत वेदना भी कोई कम नहीं है । ज्येष्ठ मास की भयंकर गर्मी से भी अनन्तगुणी गर्मी नरक का जीव सहन करता है । भूख और प्यास से वे सतत संतप्त रहते हैं । अधिकांश जीव आर्त्त व रौद्र ध्यान में समय व्यतीत करते हैं । अपने विभंगज्ञान का उपयोग भी अपने पूर्व भव के शत्रुओं की पहिचान करने में ही करते हैं...और उन शत्रुओं को पहिचान कर वैक्रिय रुप करके एक-दूसरे को दु:ख देते रहते हैं । मनुष्यलोक की अपेक्षा नरक में अनन्तगुणी वेदना है ।

कदाचित् कोई देव हमें उठाकर नरक के जीवों की पीड़ा के साक्षात् दर्शन करा दे...तो सम्भव है, उस दृश्य को देखते ही हम बेहोश हो जावें ।

आपको पता ही होगा कि नरक के जीवों को ये पीड़ाएँ कितने काल तक सहन करनी पड़ती हैं ? आप जानते ही हो कि नरक के जीवों का जघन्य आयुष्य दस हजार वर्ष और अधिकतम आयुष्य तैंतीस सागरोपम का है । एक सागरोपम में असंख्य वर्ष बीत जाते हैं । उन असंख्य वर्षों में नरक के जीव को क्षण भर भी सुख और शान्ति नहीं है ।

अरे ! नरक की पीड़ा तो परोक्ष हैं, तिर्यंचों की पीड़ा तो साक्षात् दिखाई देती है न ! क्या बुरे हाल होते हैं उन पशुओं के ! भयंकर दुष्काल में उन पशुओं को भूख-प्यास व गर्मी की भयंकर पीड़ा सहन करनी पड़ती है ।

जरा देखो तो सही-गली में भटकते उस कुत्ते की क्या हालत है ? दर-दर भटकता है किन्तु रोटी का टुकड़ा भी उसे खाने को नहीं मिल पा रहा है । उसकी काया रोगों से घिरी हुई है । भूख और प्यास के मारे उसकी हालत दयनीय बनी हुई है...फिर कोई उस पर दृष्टिपात भी नहीं करता है ।

अरे ! उस बकरे की हालत तो देखो । क्रूर व निर्दय कसाई उसे कत्लखाने में घसीट कर ले जा रहे है और वह जोर-शोर से बें-बें कर रहा

है । कौन सुनता है उसकी आवाज को !...कुछ ही क्षणों में उसकी गर्दन पर छुरी चल पड़ती है ।

जरा देखो उस सूअर को । ये निर्दय लोग उसे जाल में फँसाने की कोशिश कर रहे हैं और वह दूर-दूर भागने की कोशिश कर रहा है । आखिर बेचारा पकड़ा जाता है । वह जोर-जोर से चिल्लाता है परन्तु उसकी कोई नहीं सुनता है और उसे जीवित दशा में ही अग्नि की भट्टी में सेक दिया जाता है ।

बलवान सिंह को पिंजरे में कैद किया जाता है । विशाल काया वाले हाथी को बड़े खड्डे में गिरा दिया जाता है और जीवन भर के लिए गुलाम बना दिया जाता है ।

कितना वर्णन किया जाय उन तिर्यंचों की पीड़ाओं और यातनाओं का !

स्थावर और विकलेन्द्रिय जन्तुओं की पीड़ा तो वे ही जानते हैं । शास्त्र में कहा है, निगोद में रहा हुआ जीव अपने एक श्वासोच्छ्वास में सत्रह बार जन्म और सत्रह बार मरण कर लेता है और अठारहवीं बार पुन: जन्म धारण कर लेता है ।

इस संसार में मनुष्य-जीवन में भी सुख कहाँ है ?

मनुष्य के सिर पर भी रोग, शोक, दुर्घटना, अपयश तथा मृत्यु की नंगी तलवार लटक रही है । कोई गरीबी और तो कोई भुखमरी के कारण दु:खी है ।

मनुष्य-जीवन की पीड़ाओं के साक्षात् दर्शन करने हों तो एक बार बम्बई के जसलोक अस्पताल अथवा अहमदाबाद के वी.एस. अस्पताल में चक्कर लगा देना । ओहो ! कैसे-कैसे भयंकर रोगों से घिरे हुए दर्दी हैं ! उनके मुख से कितनी भयंकर चीसें निकल रही हैं ! कोई हॉर्ट का दर्दी है...तो कोई टी.बी. का, कोई डायबीटीज का दर्दी है तो कोई कैन्सर का । किसी की आँखों में दर्द है तो किसी के कान में । किसी का हाथ कटा है तो किसी का पैर । कोई आग में जला हुआ दर्दी है तो कोई एक्सीडेंट से घायल ।

इस संसार में कोई रोग के कारण दु:खी है तो कोई संतान न होने के कारण । कहीं लूटपाट चल रही है तो कहीं बलात्कार । नाना प्रकार के आतंक से मानव भयभीत बना हुआ है ।

अरे ! इस संसार में देवलोक में रहा देव भी सुखी नहीं है । अमाप शक्ति व समृद्धि का स्वामी होते हुए भी वह ईर्ष्या व लोभ से ग्रस्त है, इस

कारण उसका बाह्य सब सुख हवा हो जाता है । गुलाब-जामुन के स्वाद के साथ ही एक कंकड आ जाय तो जो दशा मानव की होती है, वही हालत ईर्ष्या व लोभ-दोष के कारण देवताओं की है ।

यह सम्पूर्ण संसार नाना प्रकार की वेदनाओं से भरा हुआ है। संसार में सुख का नामोनिशान नहीं है। दुनिया में अर्थ-काम के साधनों में हम सुख मानते है, परन्तु यह हमारी भ्रान्ति है। वास्तव में, वह सुख नहीं किन्तु सुखाभास है।

गर्मी के दिनों में रेगिस्तान में जब गर्म हवा (लू) चलती है, तब वहाँ दूर से बहती हुई नदी की भाँति प्रतीत होता है, परन्तु ज्योंही उसके निकट पहुँचते हैं, त्योंही जल की भ्रान्ति दूर हो जाती है ।

बस, इसी प्रकार इन्द्रियजन्य सुख वास्तविक सुख नहीं है किन्तु सुखाभास है ।

इस संसार में वीतराग-जिनेश्वर परमात्मा हमें सच्चे सुख की राह दिखाते हैं, उनके द्वारा निर्दिष्ट धर्म हमें शाश्वत अजरामर पद प्रदान करने में समर्थ है। परन्तु अफसोस ! अज्ञान व मोह के नशे के कारण जीवात्मा को उस सत्य-धर्म के प्रति प्रेम ही पैदा नहीं होता है ।

जिनेश्वर का मार्ग आत्मा को जिन/वीतराग बनाता है ।

जिनेश्वर का मार्ग आत्मा को पूर्ण बनाता है ।

परन्तु मोह की मदिरा का पान करने वाली आत्मा को जिनेश्वर का त्यागमार्ग कहाँ से रूचे ?

उसे आनन्द आता है स्त्रियों के भोग-सुखों में। उसे आनन्द आता है रेडियो, टी.वी. व केसेट के मधुर संगीत में । उसे आनन्द आता है रसनेन्द्रिय के प्रिय मधुर भोजन में ।

यही तो मोह की मदिरा का फल है। मोह बुद्धि में विपर्यास पैदा करता है, जिसके फलस्वरुप आत्मा क्षणिक-तुच्छ सुखों में आसक्त बनकर अपना संसार बढ़ा लेती है ।

कितना भयंकर है यह संसार !

कितने भयंकर हैं संसार के तुच्छ सुख !

इन सुखों (?) के नग्न स्वरुप को आप अच्छी तरह से जान लो तो फिर आपके दिल में स्वाभाविक ही उन सुखों के प्रति विरक्ति का भाव जगेगा और वह विरक्ति ही आपको विरति-धर्म के सम्मुख ले जाएगी ।

अज्जं कल्लं परं परारिं, पुरिसा चिंतंति अत्थसंपत्तिं ।
अंजलिगयं व तोयं, गलंतमाउं न पिच्छंति ।।2।।

शब्दार्थ

अज्जं=आज (मिलेगा),	**व**=भांति
कल्लं=कल (मिलेगा),	**तोयं**=जलं
परं परारिं=परसों-भविष्य में (मिलेगा)	**गलंत**=क्षीण होता,
पुरिसा=पुरुष (मनुष्य),	**आउं**=आयुष्य
चिंतंति=चिन्तन करता है,	**न**=नहीं,
अत्थसंपत्तिं=धन-संपत्ति,	**पिच्छंति**=देखता है ।
अंजलिगयं=अंजलि में रह हुआ	

अर्थ : आज मिलेगा...कल मिलेगा...परसों मिलेगा । इस प्रकार धन की प्राप्ति की आशा में रहा मनुष्य, अंजलि में रहे हुए जल की भाँति क्षीण होते आयुष्य को नहीं देखता है ।

विवेचन : धन की आशा का गुलाम बना व्यक्ति आशा के जाल में रमता रहता है । आज मिलेगा...कल मिलेगा । इस प्रकार आशा की डोर से बंधा हुआ व्यक्ति पुरुषार्थ करता रहता है, परन्तु उसे कुछ भी हाथ नहीं लगता है । किसी ने ठीक ही कहा है- ***''जो आशा का गुलाम है, वह विश्व का गुलाम है और जिसने आशा पर विजय प्राप्त कर ली है उसने समूचे विश्व पर विजय पाई है ।''***

योगिराज आनन्दघनजी ने गाया है-

आशा औरन की क्या कीजे ? ज्ञान सुधारस पीजे ।
आशा दासी के जे जाया, ते जन जग के दासा ।
आशा दासी करे जे नायक, लायक अनुभव प्यासा ।।

आशा का गुलाम शेखचिल्ली की भाँति कल्पनाओं के जाल बुनता रहता है ।

◆ शेखचिल्ली बाजार में इधर-उधर मजदूरी करता था । एक बार एक सेठ बाजार में घी लेने के लिए आए । उन्होंने एक दुकान से 10 कि.ग्रा. शुद्ध घी खरीदा । सेठजी की नजर शेखचिल्ली पर पड़ी । उन्होंने उसे कहा-``घी के इस घड़े को उठाकर मेरे घर ले चलोगे तो मैं तुम्हें मजदूरी का एक रुपया दूंगा ।''

शेखचिल्ली ने सेठ की बात तुरन्त स्वीकार कर ली और वह घी का घड़ा उठाकर चलने लगा । धीरे-धीरे वह आगे बढ़ रहा था । **``आज मजदूरी में एक रुपया मिलेगा''** इस बात का उसे बहुत ही आनन्द था । वह सोचने लगा-``सेठ मुझे एक रुपया देंगे...फिर मैं पीपरमेंट खरीदूंगा जिसे ले जाकर स्कूल के बाहर बेचूंगा...जिससे मुझे कुछ मुनाफा होगा । फिर मैं बिस्किट खरीदूंगा...पुनः उन्हें बेचूंगा...फिर मेरे पास पाँच रुपये हो जाएंगे...मैं एक बकरी खरीद लूंगा...बकरी दूध देगी...उसे बाजार में बेचूंगा...फिर धीरे-धीरे एक गाय खरीद लूंगा...गाय दूध देगी...दूध बाजार में बेचूंगा...गाय के बछड़े पैदा होंगे...फिर एक भैंस खरीदूंगा...भैंस दूध देगी...फिर मैं एक छोटी-सी दुकान कर लूंगा...फिर मेरे पास दो पैसे होने से एक सुन्दर कन्या के साथ विवाह करुंगा । फिर मेरा छोटा सा एक परिवार होगा...मैं घर का अधिपति बनूंगा...और उस समय कोई मेरी बात नहीं मानेगा तो उसे जोर से थप्पड़ लगाऊंगा ।'' इस प्रकार शेखचिल्ली कल्पना का जाल रच रहा था...और उसी समय थप्पड़ लगाने के लिए शेखचिल्ली ने हाथ ऊँचा उठाया और उसी के साथ सिर पर रहा घी का घड़ा नीचे गिर पड़ा...सारा घी जमीन पर फैल गया ।

घी का घड़ा फूटते ही सेठजी एकदम गुस्से में आकर बोले, ``तुमने यह क्या कर डाला ? सारा घी नष्ट कर दिया ।''

शेखचिल्ली ने कहा, ``आपका तो सिर्फ घी ही गया, मेरा तो सब कुछ चला गया ।''

बस, इसी प्रकार शेखचिल्ली की भाँति इस संसार में अर्थ और काम के क्षणिक भोग-सुखों में आसक्त बनी आत्मा उन सुखों को पाने के लिए प्रयत्न करती रहती है, परन्तु आशा के गुलाम को कभी भी तृप्ति का अनुभव नहीं होता है ।

भगवान महावीर प्रभु ने **'उत्तराध्ययन सूत्र'** में ठीक ही कहा है–

इच्छाओ आगाससमा अणंतिआ ।

अर्थात् :– इच्छाएँ आकाश के समान अनन्त हैं । एक इच्छा पूर्ण होते ही दूसरी नयी इच्छा जन्म ले लेती है...और उन इच्छाओं की तृप्ति के लिए मनुष्य सतत प्रयत्नशील बना रहता है...परन्तु जीवन के अमूल्य क्षण बीते जा रहे हैं, उस ओर उसकी लेश भी नजर नहीं होती है ।

इस संसार में चिन्तामणि रत्न की प्राप्ति से भी मनुष्य-जन्म की प्राप्ति अत्यन्त दुर्लभ है ।

यह बात आपने प्रवचनों में अनेक बार सुनी होगी कि देवता अपने करोड़ों वर्ष के आयुष्य में भी जो पुण्यबंध या कर्म-निर्जरा नहीं कर सकते हैं...वह पुण्यबंध और निर्जरा, मनुष्य अपने अल्पकालीन जीवन में आसानी से कर सकता है ।

विरति-धर्म का पालन देवताओं के लिए असम्भव है, और मनुष्य के लिए अति सुगम है । मात्र आठ वर्ष की लघु वय में मनुष्य ही सर्व पापों से विराम पा सकता है और सम्पूर्ण अहिंसक जीवन जी सकता है, जो देवताओं के लिए बिल्कुल शक्य नहीं है ।

परन्तु अफसोस ! अत्यन्त दुर्लभ मनुष्य-जीवन मिलने पर भी मानव अपने जीवन को विकथा-प्रमाद आदि में व्यर्थ गँवा देता है ।

एक कौए को उड़ाने के लिए कोई व्यक्ति चिन्तामणि रत्न फेंक दे तो उसे हम क्या कहेंगे ?

एक ईंट की प्राप्ति के लिए कोई महल को गिरा दे तो उसे हम क्या कहेंगे ?

सचमुच, इस मनुष्य-जीवन की सफलता तो आत्मसाधना के लिए सुयोग्य पुरुषार्थ करने में ही है ।

आत्मसाधना के कल्याणकारी पथ की उपेक्षा करके जो क्षणिक सांसारिक सुखों में आसक्त बनता है, वह व्यक्ति स्वर्ण के थाल में धूल डाल रहा है, अमृत से पाद-प्रक्षालन कर रहा है और कौए को उड़ाने के लिए चिन्तामणि रत्न फेंक रहा है । वह व्यक्ति अपने भवन में कल्पवृक्ष को उखाड़ कर धतूरे के बीज बो रहा है । चिन्तामणि के बदले काँच का टुकड़ा खरीद रहा है और महाकाय हाथी को बेच कर गधा खरीद रहा है ।

दुर्लभता से प्राप्त मनुष्य-जीवन को जो भी भोग-सुखों में व्यर्थ गँवा देता है, वह व्यक्ति समुद्र तैरने के लिए नाव को छोड़कर पत्थर ग्रहण करने वाले की तरह महामूर्ख ही है ।

अंजलि में रहा जल कब तक रह सकता है ? वह प्रतिसमय झरता ही रहता है । इसी प्रकार आयुष्य रूपी जल भी प्रतिसमय कम होता जा रहा है ।

परन्तु अफसोस ! मोहान्ध व्यक्ति इस यथार्थ सत्य के दर्शन नहीं

कर पाता है और अपने जीवन की अमूल्य क्षणों को व्यर्थ गँवा देता है। बचपन खाने-पीने में, यौवन भोग-सुख में, और वृद्धावस्था चिन्ता व शोक में गँवाने वाला व्यक्ति आत्मसाधना कब कर सकता है ?

आत्मजागृति के लिए **योगिराज आनन्दघनजी** का यह प्रेरक पद याद करने योग्य है-

अवसर बेर-बेर नहीं आवे।
ज्युं जाने त्युं कर ले भलाई, जनम-जनम सुख पावे।
तन धन यौवन सब ही झूठा, प्राण पलक में जावे।
तन छूटे धन कौन काम को, काहिकुं कृपण कहावे।
जाके दिल में सांच बसत है, ताको झूठ न भावे।
'आनन्दघन' कहे चलत पंथ में, समर समर गुण गावे।

खोया हुआ धन पुनः प्राप्त हो सकता है, खोया हुआ स्वास्थ्य पुनः प्राप्त हो सकता है, परन्तु खोया हुआ समय पुनः प्राप्त नहीं हो सकता है।

If you have lost your money, you can get it back.

If you have lost your health you can get it back.

But if you have lost your time you can't get it back at any cost. याद करो प्रभु महावीर के उस वाक्य को-**'समयं गोयम ! मा पमायए'** हे गौतम ! समय मात्र का भी तू प्रमाद मत करना।

सचमुच, भगवान महावीर के इस उपदेश को जीवन में आत्मसात् करने की आवश्यकता है।

वचनामृत

गुरु-चरणों के प्रक्षाल जल का पान करनेवाले
इस दुनिया में अनेक मिल जाएंगे,
परंतु गुरु के वचनामृत का पान करनेवाले कितने मिलेंगे ?
चरणामृत से भी वचनामृत अधिक कीमती है,
इसे नहीं भूलना चाहिए।

जं कल्ले कायव्वं, तं अज्जं चिय करेह तुरमाणा ।
बहुविग्घो हु मुहुत्तो, मा अवरण्हं पडिक्खेह ।।3।।

शब्दार्थ

जं=जो,
कल्ले=कल,
कायव्वं=करनेयोग्य कार्य है,
तं=वह,
अज्जं=आज,
चिय=ही,
करेह=कर लो,
तुरमाणा=जल्द ही,
बहुविग्घो=बहुत विघ्न से भरा,
हु=अवधारण अर्थ में, निश्चय से,
मुहुत्तो=मुहूर्त (काल)
मा=मत,
अवरण्हं=अपराह्न पर,
पडिक्खेह=डालो ।

अर्थ : जो धर्मकार्य कल करने योग्य है, उसे आज ही शीघ्र कर लो । मुहूर्त (काल) अनेक विघ्नों से भरा हुआ है, उसे अपराह्न पर मत डालो ।

विवेचन : ग्रन्थकार महर्षि हमें सावधान करते हैं कि शुभ कार्य में लेश भी देरी नहीं करनी चाहिए । संसारी जीवों पर `काल' का `हंटर' सतत घूम रहा है, पता नहीं, कब इसके शिकार हो जायें, कुछ भी कह नहीं सकते हैं ।

◆ भगवान गौतम स्वामी से प्रतिबुद्ध बालक अतिमुक्तक घर आकर अपनी माँ को कहता है-`माँ ! माँ ! मुझे दीक्षा की अनुमति दो ।''

माँ ने कहा-``बेटा ! इतनी जल्दी क्या है ?''

अतिमुक्तक ने कहा-``माँ ! मैं उसे जानता हूँ...फिर भी उसे नहीं जानता हूँ, अत: दीक्षा के लिए जल्दी कर रहा हूँ ।''

``बेटा ! तू क्या कहना चाहता है ? मेरी समझ में नहीं आ रहा है ।'' माँ ने कहा ।

``माँ ! मृत्यु आने वाली है, उसे मैं अच्छी तरह से जानता हूँ, परन्तु वह कब आने वाली है ? उसका मुझे कुछ भी पता नहीं है, अत: जीवन की सफलता के लिए शीघ्र ही संयम-जीवन स्वीकार करना चाहता हूँ ।''

अतिमुक्तक के इस उत्तर को सुनकर माँ प्रसन्न हो गई और उसने अपने लाड़ले सपूत को त्यागमार्ग पर जाने के लिए सहर्ष अनुमति दे दी ।

◆ पूर्व भव की साधना के फलस्वरुप अत्यन्त छोटी वय में दीक्षा के लिए उत्सुक बने अपने पुत्र को माँ ने कहाँ-``तू तो अभी छोटा है...बड़ा होकर दीक्षा लेना ।''

पुत्र ने कहा, ``माँ ! चूल्हें में डाली गई छोटी-छोटी लकड़ियाँ पहले जलकर राख हो जाती हैं या बड़ी लकड़ियाँ ?''

माँ ने कहा,``छोटी लकड़ियाँ पहले जलकर राख बनती है ।''

बेटे ने कहा,``माँ ! काल की अग्नि में, मैं भी तो उन छोटी लकड़ियों की तरह हूँ, अतः वह `काल' मुझे भस्मसात् करे...उसके पहले ही मैं क्यों न आत्मसाधना कर लूँ ?''

पुत्र के इस वाणी-चातुर्य से प्रभावित बनी माँ ने अपने पुत्र को संयम मार्ग पर जाने के लिए सहर्ष अनुमति दे दी ।

`समरादित्य चरित्र' में एक जगह लिखा है- ***``इस संसार में संसारी जीव जीता है, वह मृत्यु (यमराज) का ही प्रमाद है ।''***

मृत्यु की नंगी तलवार प्रत्येक जीव पर सतत लटक रही है । अतः शुभ कार्य में प्रमाद नहीं करना चाहिए ।

नीतिशास्त्र में भी कहा है-**`शुभेषु शीघ्रम् यतनीयम्'** शुभ कार्य शीघ्र करने चाहिए, उसमें देरी करना हितकर नहीं है ।

`मन में शुभ विचार पैदा होना' पुण्योदय का लक्षण है । अनादि के कुसंस्कारों के कारण शुभ विचार अधिक समय टिक नहीं पाते हैं, अतः शुभ विचार को क्रियान्वित करने में देरी नहीं करनी चाहिए ।

श्रेयस्कर-कल्याणकारी कार्यों में ही विघ्नों की सम्भावना अधिक होती है, अतः अवसर हाथ लगते ही शुभ कार्य कर लेने चाहिए ।

अनादिकाल से कुवासनाओं की गुलामी होने के कारण सतत खराब / अशुभ विचार आने की सम्भावना रहती है । उन अशुभ विचारों से बचने के लिए, अशुभ विचार आने के बाद कुछ कालक्षेप कर देना चाहिए । अशुभ विचार को शीघ्र क्रियान्वित न होने दें ।

शुभ विचार आने पर सोचें, **``काल करे सो आज कर, आज करे सो अब ।''** और अशुभ विचार आए तब सोचें-**``आज करे सो काल कर, काल करे सो परसों ।''** भाव यह है कि अशुभ विचार को कालक्षेप आदि कर किसी भी तरह से निष्फल बनाने का प्रयत्न करना चाहिए ।

ग्रन्थकार महर्षि कहते है कि जिस शुभ कार्य को तू कल के भरोसे छोड़ रहा है, उसे आज ही कर ले, क्योंकि `काल' विघ्नों से भरा हुआ है ।

**`समराइच्चकहा'** में आई हुई `यशोधर' की कहानी सुनी ही होगी ?

चारित्रधर्म की स्वीकृति में हुए थोड़े से प्रमाद के कारण उसे कितने भवों तक संसार में भटकना पड़ा ?

शास्त्र में तो कहा है कि आठ वर्ष की लघु वय में ही संयम का स्वीकार कर लेना चाहिए ।

इस बात को बराबर याद रख लो **''मानव-जीवन संयम-साधना के लिए ही है''...**संयम की साधना एक मात्र मानव-जीवन में ही शक्य है, अत: प्रमाद का त्याग कर ।

आचारांग-सूत्र में श्रमण भगवान महावीर परमात्मा ने कहा है-**'खणं जाणइ पंडीए ।'**

जो अवसर को जानता है (आए हुए अवसर को जानकर उसे साध लेता है) वही पंडित है ।

रसना की आसक्ति, भोगसुखों की आसक्ति आत्मा का पतन करा देती है ।

आषाढ़ाभूति, कंडरीक मुनि, सुव्रत मुनि के पतन में कौन कारण बना था ?

रसना की आसक्ति ही न !

नंदिषेण, अरणिक मुनि, संभूति मुनि के पतन में कौन कारण बना था ?

भोग-सुखों की आसक्ति ही न !

अत: सावधान बनो !

मानव-जीवन के अमूल्य क्षणों को व्यर्थ न गँवाओ ।

वैराग्य भाव !

संसार में मजा कम है और सजा ज्यादा है ।
संसार में सुख नाममात्र का है और दु:ख का पार नहीं है ।
फिर भी आश्चर्य है कि कण भर के सुख के लोभ के कारण संसारी जीव को संसार के सुख के प्रति वैराग्य भाव पैदा नहीं होता है ।

ही संसार-सहावं, चरियं नेहाणुराग रत्ता वि ।
जे पुव्वण्हे दिट्ठा, ते अवरण्हे न दीसंति ।।4।।

शब्दार्थ

ही=अहो !
संसार-सहावं=संसार का स्वभाव,
चरियं=विचित्र है,
नेहाणुराग=स्नेह के अनुराग से,
रत्ता=रक्त (आसक्त),
वि=भी,
जे=जो,
पुव्वण्हे=पूर्वाह्न में,
दिट्ठा=दिखाई देते है,
ते=वे,
अवरण्हे=अपराह्न,
न=नहीं,
दीसंति=दिखाई देते है ।

अर्थ : अहो ! संसार का स्वाभाव कैसा विचित्र है ? जो पूर्वाह्न में स्नेह के अनुराग से रक्त दिखाई देते हैं...वे अपराह्न में वैसे दिखाई नहीं देते है ।

विवेचन : प्रदेशी राजा और सूर्यकान्ता महारानी के बीच कितना अपूर्व प्रेम था ! वे दोनों एक-दूसरे के वियोग को सहन नहीं कर पाते थे । परन्तु वह प्रेम कब तक टिका रहा ? उसी सूर्यकान्ता महारानी ने अपने पति प्रदेशी राजा को जहर का कटोरा पिला दिया और अपने हाथों से उसका गला दबोच दिया था ।

◆ परपुरुष के संग में आसक्त बनी चुलनी माता ने अपने पुत्र ब्रह्मदत्त को जीवित जला देने के लिए कैसा भयंकर षड़यंत्र रचा था !

'प्रशमरति सूत्र' में ग्रन्थकार महर्षि वाचकवर्य श्री उमास्वातिनी महाराज संसार के स्नेह / प्रेम को धिक्कारते हैं । संसार में निर्दोष प्रेम कहाँ मिलता है ? वह तो प्रेम के लिबास में कोरा स्वार्थ ही होता है ।

◆ सुनी हुई घटना है ।

बम्बई में दो भाई रहते थे । उन दोनों में अपूर्व प्रेम था । एक दिन छोटे भाई ने बड़े भाई को अपने घर आने के लिए आमंत्रण दिया । दोनों भाई वातानुकूलित कक्ष (A.C.) में एक ही टेबल पर बैठकर एक ही थाली में मिजबानी उड़ा रहे थे । बहुत ही आनन्द से दोनों भाइयों ने भोजन किया...और भोजन की समाप्ति के बाद पता नहीं क्या घटना बनी ? कहाँ से आग की चिनगारी आ गिरी ?...और वे परस्पर झगड़ पड़े...एक दूसरे को मारने के लिए तैयार हो गए...दोपहर के समय वह मामला अदालत में गया...और आखिर वे दोनों भाई जीवन भर के लिए एक दूसरे के दुश्मन हो गए ।

ऐसी तो अनेक घटनाएँ हमारे दैनिक जीवन-व्यव्हार में देखने, पढ़ने व सुनने को मिलती हैं ।

◆ वृक्ष जब हरा-भरा होता है, तब अनेक पक्षी आकर उस वृक्ष पर घोंसला बनाते हैं, कोयल के कूजन से वह वृक्ष गूंज उठता है, पथिक आकर उस वृक्ष के नीचे विश्राम करते हैं, माली आकर उस वृक्ष का सिंचन करता है, परन्तु जब वही वृक्ष जीर्ण-शीर्ण हो जाता है, फल-फूल से रहित हो जाता है, तब उस वृक्ष के पास कौन आता है ? कोई नहीं ।

◆ गाय जब तक दूध देती है, तब तक उसे हरा घास खिलाते हैं...उसकी पूरी सावधानी रखते हैं परन्तु ज्योंहि वह गाय वृद्ध हो जाती है, तब कोई उसकी संभाल नहीं रखता है ।

◆ सरोवर में जब तक पानी भरा होता है, तब तक हजारों मनुष्य व पशु-पंखी वहाँ आते हैं, परन्तु ज्योंहि वह सूख जाता है, त्योंही सभी व्यक्ति उससे दूर चले जाते हैं ।

संसार में प्रेम (?) करते हैं धन से ।
संसार में प्रेम (?) करते हैं पद से ।
संसार में प्रेम (?) करते हैं शक्ति से ।

अर्थात् यदि आपके पास धन है, पद है अथवा शक्ति है तो दुनिया आपसे प्रेम करेगी, आपके प्रति आदर भाव व्यक्त करेगी, परन्तु यदि आपके पास इनमें से कुछ भी नहीं है तो आपके ही स्वजन-मित्र आपसे दूर रहने की कोशिश करेंगे ।

इसीलिए तो प्रभु महावीर ने कहा है, ***'संसार स्वार्थ से भरा हुआ है...संसार के सम्बन्ध स्वार्थ से भरे हुए हैं ।'***

सांसारिक सम्बन्धों की भयंकरता को लक्ष्य कर ही तो **आनन्दघनजी योगिराज** ने गाया है-

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम माहरो रे, और न चाहु रे कंत ।
रीझ्यो साहिब संग ने परिहरे रे, भांगे सादि अनंत ।।

वे कहते हैं-युगादिदेव आदिनाथ परमात्मा ही मेरे प्रियतम हो...मैं उन्हीं से प्रेम करना चाहता हूँ...मैं उन्हीं के चरणों में आत्म-समर्पण करना चाहता हूँ...वे ही मेरे नाथ हैं...वे ही मेरे सर्वस्व हैं...अब मुझे किसी की चाह नहीं है...अब मेरी अन्य कोई राह नहीं है । परमात्मा के साथ की प्रीति

सादि-अनन्त है, जबकि दुनिया में जो प्रीति होती है...वह सादि-सान्त होती है ।

लग्न आदि के द्वारा संसार में जो संबंध जोड़े जाते हैं, वे सम्बन्ध अधिकतम जीवन-पर्यन्त रह सकते हैं ।

वर्तमान युग में तो इन सम्बंधों के बीच प्रतिक्षण खतरा है । किसी भी समय किसी के जीवन में खतरे की घंटी बज सकती है ।

आज के `डायवोर्स' के युग में लग्न-जीवन के संबंध भी कहाँ स्थिर हैं ? अमेरिका जैसे देश में एक ही स्त्री अपने जीवन में डायवोर्स द्वारा अठारह-अठारह पति कर लेती है ।

संसार में जड़ पदार्थों का सौंदर्य भी कहाँ स्थिर है ? जगत् के समस्त पदार्थ परिवर्तनशील हैं । पुद्गल मात्र का यह स्वभाव है...उसकी पर्याय / अवस्थाएँ सतत बदलती रहती हैं ।

जिस वस्तु को देखकर सुबह मन आनन्दित होता है...शाम को उसी वस्तु को देखकर मन उद्विग्न बन सकता है ।

पौद्गलिक पदार्थों के भाव बदलते रहते हैं, फिर भी आश्चर्य है कि अज्ञानता व मोह के कारण व्यक्ति, वस्तु की किसी एक पर्याय में मोहित बन जाता है और उसे पाने के लिए अत्यन्त लालायित हो उठता है ।

◆ जिस प्रकार `पतंगा' अग्नि के रुप पर मोहित होकर उसका स्पर्श करने जाता है, परन्तु ज्योंही वह अग्नि का स्पर्श करता है, उसे अपने ही प्राण खोने पड़ते हैं ।

बस, इसी प्रकार स्त्री के क्षणिक रुप पर मोहित व्यक्ति अपनी आत्मा के भाव-प्राणों का ही नाश करता है ।

आत्मा का सौन्दर्य शाश्वत है ।

पुद्गल का सौन्दर्य क्षणिक है ।

◆ इन्द्र महाराजा ने सनतकुमार चक्रवर्ती के अद्भुत रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा की । एक मनुष्य के रूप की इस प्रकार की प्रशंसा सुनकर दो देव ब्राह्मण का रूप धारणकर हस्तिनापुर आए ।

उस समय सनतकुमार चक्रवर्ती स्नानगृह में स्नान कर रहे थे ।

ब्राह्मणवेष में रहे देवों ने चक्रवर्ती का रूप-सौन्दर्य निहारा और वे दाँतों तले अंगुली दबाने लगे । परन्तु उस समय चक्रवर्ती ने कहा, ''अरे ब्राह्मणों ! रूप-दर्शन करना हो तो राजसभा में आना, अभी तो मैं वस्त्र व अलंकारों से रहित हूँ ।''

चक्रवर्ती का यह कथन सुनकर दोनों ब्राह्मण चले गए ।

थोड़ी ही देर बाद कीमती वस्त्र और स्वर्ण-रत्न के अलंकारों से सुसज्जित होकर सनत्कुमार चक्रवर्ती अपनी राजसभा में पधारे । हजारों नर-नारियों ने चक्रवर्ती का जयघोष किया, चक्रवर्ती ने आसन ग्रहण किया और उसी समय ब्राह्मणवेषधारी दोनों देव राजसभा में उपस्थित हुए ।

परन्तु यह क्या ! चक्रवर्ती के दर्शन के साथ ही उन्होंने अपना मुँह फेर लिया । उनकी इस प्रवृत्ति से चक्रवर्ती को भारी आश्चर्य हुआ ।

वे बोले-'अरे ब्राह्मणो ! मेरे रूपदर्शन के लिए आए हो न ! तो मेरे सामने देखो ।'

चक्रवर्ती की यह बात सुनकर ब्राह्मणवेषधारी देवों ने कहा-''अब क्या देखें ? आपका रूप तो नष्ट हो चुका है...आपके शरीर में रोग पैदा हो गए है । आपको विश्वास न हो तो थूक कर देखे ।''

तुरन्त ही चक्रवर्ती ने पानदानी में थूका और उस थूक में उन्होंने छोटे-छोटे कीड़ों को देखा ।

बस, तुरन्त ही चक्रवर्ती के रूप-अभिमान पर चोट लगी । सोचने लगे, ''अहो ! कैसा यह क्षणभंगुर देह है ! अहो ! इतने अल्प समय में इस देह की ऐसी विकृति !''...और उन्होंने आत्म-कल्याण के पथ पर प्रयाण कर दिया । भयंकर रोग परीषह को सहन कर सदा के लिए बंधन-मुक्त हो गए ।

झूठी जगनी पुद्‌गल बाजी,
त्यां नवि रहीए राजी ।
तन धन यौवन साथ न आवे,
आवे न मात पिताजी ।।

मा सुयह जग्गियव्वे, पलाइयव्वंमि कीस वीसमेह ?
तिन्नि जणा अणुलग्गा, रोगो अ जरा अ मच्चू अ ।।5।।

शब्दार्थ

मा=मत,	**तिन्नि**=तीन,
सुयह=सोओ !	**जणा**=जन (आत्मिक शत्रु)
जग्गियव्वे=जागृत रहने योग्य धर्म कर्म के विषय में,	**अणुलग्गा**=तुम्हारे पीछे लगे हुए है,
पलाइयव्वंमि=नष्ट होने वाले इस संसार में,	**रोगो**=रोग,
कीस=किसका,	**जरा**=वृद्धावस्था,
वीसमेह=विश्वास करोगे,	**मच्चू**=मृत्यु,
	अ=और

अर्थ : जाग्रत रहने योग्य धर्म-कर्म के विषय में सोना मत । नष्ट होने वाले इस संसार में किसका विश्वास करोगे ? रोग, जरा और मृत्यु ये तीन तुम्हारे पीछे लगे हुए हैं ।

विवेचन : यह जीवन सोने के लिए नहीं है...प्रमाद के लिए नहीं है ।

अव्यव्हार राशि में अनन्तकाल सोने में / प्रमाद में गया है । व्यवहार राशि में भी एकेन्द्रिय तथा बेइन्द्रिय, तेइन्द्रिय, चउरिन्द्रिय आदि में असंख्य वर्ष प्रमाद में गए हैं । पंचेन्द्रिय अवस्था में भी अधिकांश काल मोह की नींद में ही गया है ।

देवलोक में सुख की बहुलता होने से आत्मा प्रायः रागाधीन बनती है...नरक में दुःख की बहुलता होने से आत्मा प्रायः द्वेषाधीन बनती है, तिर्यंच में भूख की बहुलता, अज्ञानता और पराधीनता के कारण सन्मार्ग-बोध की सम्भावना कम ही रहती है । जो आत्मा मोहाधीन है, वह जागते हुए भी सोई हुई है ।

जो आत्मा मोह-विजेता है...अथवा मोहजय के लिए प्रयत्नशील है...वह आत्मा सोते हुए भी जाग्रत है ।

मोह से जाग्रत बनने के लिए हमें इस जीवन में बहुत सी अनुकूल सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं ।

ठीक ही कहा है-

'कुवादि-कुरङ्गसन्त्रासनसिंहनादाः ।'

परमात्मा की वाणी मोह रूपी कुरंग (मृग) के संत्रासन के लिए सिंहनाद समान है ।

परमात्मा की वाणी मोह के लिए जोरदार तमाचा है ।

'आचारांग-सूत्र' में प्रभु महावीर ने भव्यात्माओं को सम्बोधित करते हुए ठीक ही कहा है-

'उट्ठिए, नो पमायए'

उठो, जागो, प्रमाद का त्याग करो ।

अन्तरात्मा की सुषुप्त चेतना को जागृत करो ।

इस संसार में कोई पदार्थ शरण्य नहीं है । कोई भी विश्वास करने योग्य नहीं है, क्योंकि जगत् के सभी पदार्थ परिवर्तनशील हैं...प्रतिक्षण नष्ट होते जा रहे हैं ।

जो स्वयं मर रहा हो, वह दूसरे को क्या बचाएगा ?

जो स्वयं स्थिर नहीं है, वह दूसरे की क्या सुरक्षा करेगा ?

जो स्वयं नाशवन्त है...वह दूसरे को क्या आनन्द देगा ?

संसार के सभी पदार्थ नाशवन्त हैं, क्षणिक हैं, परिवर्तनशील हैं ।

धन विश्वास करने योग्य नहीं है ।

पुत्र, परिवार विश्वास करने योग्य नहीं हैं ।

शरीर भी विश्वास करने योग्य नहीं है ।

'तरंगतरलालक्ष्मी' लक्ष्मी तो जल-तरंग की भाँति चपल-चंचल व चलित स्वभाव वाली है ।

आज आपका पुण्योदय है...आपके पास सम्पत्ति है, कल पापोदय होगा, वही सम्पत्ति दूर-सुदूर चली जाएगी, आप हाथ मलते ही रह जाओगे ।

पुत्र-परिवार स्वजन भी तभी तक अनुकूल रहते हैं, जब तक पुण्य

का उदय होता है, पाप का उदय होने पर वे ही स्वजन अपने से विपरीत चलने लग जायेंगे ।

♦ मगधसम्राट् श्रेणिक ने जिस पुत्र कोणिक को बड़े लाड़-प्यार से बड़ा किया था, वही कोणिक बड़ा होने पर श्रेणिक को जेल के सींकचों में बंद करवा देता है...और प्रतिदिन कोड़ों (हंटर) की मार लगवाता है ।

♦ जिस सीता के लिए रामचन्द्रजी ने रावण के साथ भयंकर युद्ध लड़ा था...उसी सीता का जब पापोदय आता है, तब वे ही रामचन्द्रजी उसे भयंकर दण्डकारण्य में भिजवा देते हैं ।

♦ जिस ऋषिदत्ता के नगर-प्रवेश पर उसके श्वसुर ने उसका भव्य स्वागत किया था...उसी ऋषिदत्ता का पापोदय आने पर उसके ही श्वसुर ने उसे मौत के घाट उतारने की आज्ञा कर दी थी ।

♦ सनत्कुमार चक्रवर्ती के रूप-दर्शन के लिए दूर-दूर से लोग आते थे । सनत्कुमार चक्री अत्यन्त रूपवान थे, बलिष्ठ थे...परन्तु ज्योंही पाप का उदय हुआ, त्योंही उनकी काया में भयंकर रोग फैल गए ।

ठीक ही कहा है-

'तन-धन-यौवन सब ही झूठा, प्राण पलक में जावे ।'

अत: इस संसार में कोई भी विश्वास करने योग्य नहीं है ।

ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं-'रोग, जरा और मृत्यु रूपी डाकू अपने पीछे लगे हुए हैं, वे किसी को नहीं छोड़ते हैं ।'

♦ जिस रूपसुन्दरी को अपने रूप का गर्व था, उसकी काया केन्सर से ग्रस्त हो गई...उसका सारा अभिमान गल गया ।

♦ जो व्यक्ति युवावस्था में अनेक पर हुकम चलाता था...आज वृद्धावस्था से घिरे होने के कारण, उसकी ओर कोई देखने के लिए तैयार नहीं है ।

♦ कल तो उसके लग्न-प्रसंग का वरघोड़ा निकला था...सभी आनन्द-कल्लोल कर रहे थे, आज उसी की शव-यात्रा निकल रही है, चारों ओर रुदन-क्रन्दन सुनाई दे रहा है ।

संसार का 'नग्न-चित्र' प्रस्तुत करने वाली, कवि की ये पंक्तियाँ याद आ जाती हैं-

इधर एक दूल्हा घोड़े चढ़ा है,
उधर एक जनाजा उठा जा रहा है ।
इधर वाह-वाह है, उधर ठंडी आहे !
कोई रो रहा है, कोई गा रहा है ।
शायद इसी का नाम है दुनिया,
कोई आ रहा है, कोई जा रहा है ।
इसी का नाम है दुनिया ।

दुनिया के सभी पदार्थ नाशवन्त हैं अत: वे पदार्थ अपनी आत्मा को शरण देने में समर्थ नहीं हैं । कोई भी पदार्थ या व्यक्ति हमें मृत्यु से बचा नहीं सकता ।

सम्राट् हो...चाहें चक्रवर्ती हो...देव हो...चाहे देवेन्द्र, सभी को मौत को भेंटना ही पड़ता है ।

किस समय कौन-सा रोग उदय में आ जाएगा, कुछ कह नहीं सकते ।

जरा का अर्थ मात्र वृद्धावस्था नहीं है, जरा का एक अर्थ वयोहानि भी है...अर्थात् प्रतिक्षण हमारे आयुष्य में हानि होती जा रहा है । जिस प्रकार दीपक ज्यों-ज्यों जलता है, त्यों-त्यों उसका तैल कम होता जाता है, उसी प्रकार ज्यों-ज्यों समय बीतता है, त्यों-त्यों मृत्यु निकट आती जाती है । इससे सिद्ध होता है कि हम प्रतिक्षण वृद्ध होते जा रहे हैं ।

रोग, जरा और मृत्यु के बन्धन से मुक्त करने में एक मात्र `जिनधर्म' ही समर्थ है ।

वीतराग-जिनधर्म ही आत्मा को कर्म के बन्धन से मुक्त कर सकता है । दुर्लभता से प्राप्त इस जीवन में जिनधर्म की आराधना-साधना के लिए प्रचण्ड पुरुषार्थ करना चाहिए...इसीं में जीवन की सफलता / सार्थकता है ।

काल झपाटा सहु ने वागे,
योगी जन झट जागे ।
चिदानंदघन आतम अर्थी,
रहेजो सौ वैरागे ॥

दिवस-निसा-घडिमालं, आउस्सलिलं जिआण घित्तूणं ।
चंदाइच्चबइल्ला, कालऽरहट्टं भमाडंति ।।6।।

शब्दार्थ

दिवस=दिन,	**घित्तूणं**=ग्रहण करके,
निसा=रात,	**चंदाइच्च**=चन्द्र और आदित्य (सूर्य),
घडिमालं=घट (मटको) की माला,	**बइल्ला**=बैल,
आउ=आयुष्य रुपी,	**काल**=काल,
स्सलिलं=जल को,	**अरहट्टं**=अरहट,
जिआण=जीवो के,	**भमाडंति**=जीव को घुमाता है ।

अर्थ : चन्द्र और सूर्य रूपी बैलों से जीवों के आयुष्य रूपी जल को दिन और रात रूपी घट में ग्रहण कर काल रूपी अरहट जीव को घुमाता है ।

विवेचन : ग्रन्थकार महर्षि विविध उपमाओं के द्वारा हमें जीवन की अनित्यता समझा रहे हैं ।

जिस प्रकार एक किसान अरहट चलाकर मिट्टी के घड़ों द्वारा बैलों को घुमाकर कुंए से जल निकालता है, उसी प्रकार काल रूपी किसान अरहट को घुमा रहा है, जिसमें सूर्य और चन्द्र रूपी बैल जुते हुए हैं, दिन और रात रूपी घड़े हैं । इस अरहट को घुमाकर जीव का आयुष्य रूपी जल खींचा जा रहा है ।

दिन-रात रुपी घट द्वारा आयुष्य रूपी पानी निकालने के कारण जीवात्मा का आयुष्य रूपी कुआँ एक दिन खाली हो जाएगा...और जीवात्मा को एक दिन संसार से विदाई लेनी पड़ेगी ।

◆ दिल्ली से बम्बई तक की यात्रा में यदि सीट का आरक्षण हो तो यात्री निश्चिन्त रहता है...गाड़ी आने के पूर्व उसे कोई चिन्ता नहीं रहती है, परन्तु टिकट या आरक्षण न हो तो सतत चिन्ता बनी रहती है, उसी प्रकार इस जीवन से विदाई के पूर्व यदि सद्गति का आरक्षण करा लिया होगा तो तुम निश्चिन्त रह सकोंगे अन्यथा मृत्यु के समय हाय ! हाय ! रही तो आत्मा की दुर्गति निश्चित है ।

दुर्गति से बचने के लिए समाधिमय मरण आवश्यक है और समाधिमरण के लिए समाधिमय जीवन आवश्यक है ।

जिनाज्ञानुसार जीवन अर्थात् समाधिमय जीवन। समाधिमय जीवन का फल समाधिमय मरण है और समाधिमय मरण का फल सद्‌गति की प्राप्ति है।

♦ **समाधिमय जीवन अर्थात् समत्वयुक्त जीवन ।**

♦ **समत्वयुक्त जीवन अर्थात् ममत्वरहित जीवन ।**

♦ **समत्व की साधना के लिए कषायों पर जय अनिवार्य है ।**

♦ **ममत्व-त्याग के लिए इन्द्रिय-संयम अनिवार्य है ।**

♦ **ममत्व पर विजय पाने के लिए इन्द्रियों के अनुकूल विषयों का त्याग अनिवार्य है ।**

♦ **त्याग के लिए विरक्ति जरूरी है और विरक्ति के लिए प्रतिदिन वैराग्य की भावना जरूरी है ।**

रात्रि में सोते समय इस प्रकार भावना करो–

1. अहो ! संसार में स्वामी-सेवक आदि के सम्बन्ध कितने अस्थिर हैं ? कल जो करोड़पति था...आज वह 'रोड' पति (गरीब) हो गया ।

2. कल जो अत्यन्त रूपवान और हृष्ट-पुष्ट था...आज वह कैंसर के भयंकर रोग से ग्रस्त हो गया ।

3. कल जो सत्ता में था...हजारों व्यक्ति जिसकी आज्ञा का पालन करते थे...आज वह सत्ताहीन हो गया, उसका कोई नाम भी नहीं लेता है ।

4. कल जो भव्य महल बनाया था, आज भूकम्प के कारण धरती में विलीन हो गया ।

चपला चमकार जिम चंचल,
नर भव सूत्र बताया,
अंजलि जल सम जगपति जिनवर,
आयु अथिर दरसाया ।
यौवन संध्या राग रुप फुनि,
मल मलिन अति काया,
विणसत जास विलंबन रंचक,
जिम तरुवर की छाया ।।

सा नत्थि कला तं नत्थि, उसहं तं नत्थि किं पि विन्नाणं ।
जेण धरिज्जइ काया, खज्जंती कालसप्पेण ।।7।।

शब्दार्थ

सा=वह ऐसी कोई,	**विन्नाणं**=विज्ञान,
नत्थि=नहीं है,	**जेण**=जिसके द्वारा,
कला=कला, हाथ चालाकी,	**धरिज्जइ**=बचाया जा सके,
तं=वह,	**काया**=इस काया को,
उसहं=औषध,	**खज्जंती**=खाई जाती हुई,
किं पि=कोई भी,	**कालसप्पेण**=काल रुपी सर्प के द्वारा ।

अर्थ : ऐसी कोई कला नहीं है, ऐसी कोई औषधि नहीं है, ऐसा कोई विज्ञान नहीं है कि जिसके द्वारा काल रूपी सर्प के द्वारा खाई जाती हुई इस काया को बचाया जा सके ।

विवेचन : काया की नश्वरता का कितना सटीक चित्रण है !

दुनिया में अनेक प्रकार की औषधियाँ उपलब्ध हैं, जिनके द्वारा अनेक प्रकार के रोग मिटाये जा सकते हैं...परन्तु कोई दवा नहीं है जिसके द्वारा काया को 'मृत्यु' से बचाया जा सके ।

दुनिया में अनेक प्रकार की कलाएँ हैं-संगीतकला, नाट्यकला, वाद्यकला, शस्त्रकला, शास्त्रकला, कवित्व, काव्यकला आदि-आदि परन्तु दुनिया में ऐसी कोई कला नहीं है जिसके द्वारा मृत्यु को जीता जा सके । दुनिया के बाह्य शत्रु को खत्म करना आसान बात है, परन्तु दुनिया को खत्म करने वाली मृत्यु को मारना किसी के वश की बात नहीं है । पुरुषों की 72 कलाएँ दुनियाँ में प्रसिद्ध हैं और स्त्रियों की 64 कलाएँ प्रसिद्ध हैं, परन्तु इन 136 कलाओं में ऐसी एक भी कला नहीं है, जिसके द्वारा मृत्यु को जीता जा सके, मृत्यु को वश में किया जा सके ।

आधुनिक विज्ञान ने अनेक प्रकार की शोधे की है । वायुयान के द्वारा हजारों मील दूर की यात्रा कर सकते हैं । दूर रहे दृश्य को दूरदर्शन पर प्रत्यक्ष निहार सकते हैं । दूर बैठे व्यक्ति से फोन पर परस्पर बातचीत कर सकते हैं । वायरलैस के माध्यम से दूर-दूर तक संदेश पहुँचा सकते हैं । विज्ञान ने अनेक प्रकार की खोज की है, परन्तु मृत्यु के मुख से तो वह भी नहीं बचा सका है ।

काल रूपी सर्प जीवों की काया का सतत भक्षण कर रहा है ।

दुनिया में ऐसा कोई पदार्थ, ऐसी कोई शक्ति या सामर्थ्य नहीं है कि इस काल सर्प से अपनी आत्मा को बचाया जा सके ।

दुनिया के पदार्थ प्रतिक्षण नष्ट होते हैं । प्रतिक्षण पदार्थ के पर्याय बदलते जाते है । प्रतिक्षण वस्तु पुरानी होती जा रही है...उसे रोका नहीं जा सकता ।

प्रत्येक पदार्थ उत्पाद-व्यय और ध्रुव स्वरूप वाला है । प्रति समय वस्तु के पूर्व पर्याय का विच्छेद होता जा रहा है और नवीन पर्याय की उत्पत्ति होती जा रही है । बिल्डिंग के निर्माण के साथ ही उसका धराशायी होना प्रारम्भ हो जाता है...परन्तु प्राय: वह `ध्वंस' चर्म चक्षुओं से ख्याल में नहीं आता है । वह `ध्वंस' इतना सूक्ष्म और गतिशील है कि हम उसके अन्तर को पकड़ नहीं पाते हैं ।

बिजली का प्रवाह भी क्रमिक होता है, परन्तु वह प्रवाह तीव्र गति से होने के कारण हमें ऐसा ही लगता है मानों हजारों बल्ब एक साथ ही जले हों । हजार बल्ब तक विद्युत् एक ही समय में नहीं पहुँची है, विद्युत् का प्रवाह क्रमिक ही हुआ है, परन्तु उसकी तीव्रगति के कारण हमें यह भ्रम हो जाता है कि ये बल्ब एक साथ जले हैं ।

प्रत्येक पदार्थ प्रति समय क्षीण होता जाता है...परन्तु उस परिवर्तन की गति अत्यन्त तीव्र होने से हम उसे पकड़ नहीं पाते हैं ।

अपनी काया प्रति समय जर्जरित हो रही है । उसका सौन्दर्य प्रति समय लूटा जा रहा है, परन्तु अफसोस ! अज्ञानता और मोह के कारण नश्वरस्वभावी काया हमें स्थिर दिखाई देती है...उसके किसी पर्यायविशेष को देखकर हम उस पर मोहित हो जाते हैं और उस पर राग कर बैठते हैं ।

♦ याद करें गजसुकुमाल महामुनि को । श्वसुर ने उनके सिर पर जलते हुए अंगारे डाल दिये थे...फिर भी वे हिले नहीं, अडिग ही रहे । इतना ही नहीं, देह के प्रति निर्मम बने हुए वे मुनिवर सोचने लगे, **``जो जल रहा है, वह मेरा नहीं है और जो मेरा है, वह कभी जलने वाला नहीं है ।''**

देह और आत्मा भिन्नस्वभावी हैं । देह नश्वर है, आत्मा शाश्वत है । देह विनाशी है, आत्मा अविनाशी है । अत: देह के पुजारी मिटकर आत्मा के पुजारी बनो । देह के राग का त्याग कर आत्मा का राग प्रकट करो ।

देह विनाशी तत्त्व है, आत्मा अविनाशी है अत: देह के वियोग में दु:खी न बनो, देह के संयोग में राजी न हो । देह के नाश में अपना नाश मत मानो ।

दीहर-फणिंदनाले, महियर-केसर-दिसा-महदलिल्ले ।
उअपिअइ कालभमरो, जणमयरंदं पुहवि-पउमे ।।8।।

शब्दार्थ

दीहर=दीर्घ,	**उअ !**=अहो ! (खेद सूचक है)
फणिंद=फणिधर रुपी,	**पिअइ**=पान कर रहे है,
नाले=नाल पर,	**कालभमरो**=काल रुपी भौरा,
महियर=पर्वत रुपी,	**जण**=जीव रुप,
केसर=केसराएँ,	**मयरंदं**=मकरंद,
दिसा=दिशा रुपी,	**पुहवि**=पृथ्वी रुप,
महदलिल्ले=बडे-बडे पत्र है,	**पउमे**=कमल पर ।

अर्थ : खेद है कि दीर्घ फणिधर रूपी नाल पर पृथ्वी रूपी कमल है, पर्वत रूपी केसराएं और दिशा रूपी बड़े-बड़े पत्र हैं, उस कमल पर बैठ कर कालरूपी भ्रमर सतत जीव रूपी मकरन्द का पान कर रहा है ।

विवेचन : जिस प्रकार भ्रमर सतत पुष्प के पराग / मकरन्द के पान में मस्त रहता है...दिन और रात के भेद को वह भूल जाता है, उसी प्रकार काल रूपी भ्रमर सतत जीव रूपी मकरन्द का पान करता जा रहा है । इसमें कब अपना क्रम (नम्बर) आ जाएगा, कुछ पता नहीं है ।

आए दिन अखबारों में अनेक व्यक्तियों की मृत्यु के समाचार पढ़ते हैं...सुनते हैं फिर भी हम अपने आपको मृत्यु से सुरक्षित समझते हैं ।

`मृत्यु' के संदर्भ में हमने दो सुरक्षा-शस्त्र खड़े कर लिये हैं-

(1) `मृत्यु' सदा दूसरों की होती है । (2) `मृत्यु' बहुत दूर है ।

इस प्रकार की चित्तवृत्ति के कारण हम स्वयं की मृत्यु को भूल बैठे हैं और जो मृत्यु को भूल बैठा है, वही व्यक्ति, संसार के पदार्थों के साथ अपने संबंध दृढ़ करता जाता है ।

यह जीवन मुसाफिरखाने की भाँति है । जीवन तो विश्राम-गृह है । विश्राम-गृह में आखिर कितने समय तक रूका जाता है ? परन्तु हमारा यही पागलपन है कि हमने `विश्राम-गृह' को **`अपना गृह'** मान लिया है और उसी भूल के कारण उसी को सजाने में उसी के संरक्षण में सदा प्रयत्नशील रहे हैं ।

किसी कवि ने आत्म-जागृति के लिए बहुत ही सुन्दर बात कही है-

मोह से तेरा कमाया, धन यहीं रह जाएगा ।
प्रेम से अति पुष्ट किया, तन जलाया जाएगा 1

तन फना है, धन फना है, स्थिर कोई जग में नहीं ।
प्राण प्यारा पुत्र दारा, सब यहाँ रह जाएगा 2
मात नहीं है, तात नहीं है, सुत नहीं, तेरा सगा ।
स्वार्थ से सब अपने होते, अन्त में देते दगा 3
एकला यहाँ पे तू आया, एकला ही जाएगा ।
क्यों बुरे तू कर्म करता, नरक में दुःख पाएगा 4

कवि ने कितनी सुन्दर और मार्मिक बात कही है :

`मोक्ष' ही अपना वास्तविक घर है । दुनिया के घर तो अल्पकालीन हैं । मोक्ष में ही हम सदा के लिए स्थिर रह सकते हैं ।

जिस प्रकार सरकारी नौकरी करनेवाला कर्मचारी एक स्थान में स्थायी नहीं होता है, उसका ट्रांसफर होता रहता है, उसी प्रकार कर्म की नौकरी करने वाला संसारी जीव भी एक स्थान (एक भव) में हमेशा के लिए स्थायी नहीं रह सकता, एक भव से दूसरे भव में, एक शरीर से दूसरे शरीर में उसका ट्रांसफर होता रहता है । वह चाहे या न चाहे, उसे अपना देह बदलना ही पड़ता है ।

हाँ ! एक ऐसा भी उपाय है, जिसके द्वारा मृत्यु पर विजय पाई जा सकती है ।

♦ गजसुकुमाल महामुनि ने अन्तिम मृत्यु के द्वारा मृत्यु को मार डाला था ।

♦ खन्धक मुनि, मेतारज मुनि, दृढ़प्रहारी, प्रभु महावीर आदि-आदि ने समत्वयोग की साधना द्वारा मृत्यु पर विजय प्राप्त कर ली थी ।

समत्वयोग की साधना द्वारा वे एक ऐसी स्थिति को प्राप्त हो चुके थे कि जहाँ मृत्यु उनका पीछा नहीं कर सकती । वे सदा के लिए मृत्यु से परे पहुँच चुके थे । वे शाश्वत-जीवन के भोक्ता बन चुके थे ।

पसन्द है न आपको ! वह शाश्वत जीवन, जहाँ मृत्यु का नामोनिशान नहीं है । जहाँ सदा के लिए जीवन है, सदा के लिए आनन्द है, सदा के लिए बन्धन-मुक्ति है । जहाँ आत्मा का स्वतन्त्र अस्तित्व है...स्वतन्त्र जीवन है...जहाँ सतत ज्ञाता-दृष्टा बनकर अक्षय आनन्द का अनुभव करती है । आत्मा की ऐसी ही स्थिति को तीर्थंकर परमात्मा ने `मोक्ष' कहा है ।

यह दुर्लभ मानव-जीवन उसी की साधना के लिए है । उसी की प्राप्ति के पुरुषार्थ में जीवन की सफलता / सार्थकता है ।

छायामिसेण कालो, सयलजिआणं छलं गवेसंतो ।
पासं कह वि न मुंचइ, ता धम्मे उज्जमं कुणह ॥9॥

शब्दार्थ

छाया=छाव,	**पासं**=सामीप्य,
मिसेण=के बहाने,	**कह वि**=कही भी,
काल=मृत्यु,	**न मुंचइ**=नहीं छोड़ता है,
सयल=सकल,	**ता**=इसलिए,
जिआणं=जीवों के,	**धम्मे**=धर्म में,
छलं=छिद्रो का,	**उज्जमं**=उद्यम,
गवेसंतो=अन्वेषण करता हुआ,	**कुणह**=करो ।

अर्थ : हे भव्य प्राणियों ! छाया के बहाने सकल जीवों के छिद्रों का अन्वेषण करता हुआ यह काल (मृत्यु) हमारे सामीप्य को नहीं छोड़ता है, अत: धर्म के विषय में उद्यम करो ।

विवेचन : विपुल समृद्धि और सम्पत्ति के स्वामी होते हुए भी ज्योंही उन चक्रवर्तियों ने जगत् के यथार्थ क्षणभंगुर स्वरूप को जाना, त्योंही उन्होंने बाह्य संसार का त्याग कर दिया ।

सनत्कुमार चक्रवर्ती ! जिसके पास रूप का अपूर्व वैभव था, इन्द्र ने भी जिसके अद्भुत रूप की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी...और जिसके रूप-दर्शन के लिए देवताओं का भी आगमन हुआ था...ऐसे सनत्कुमार चक्रवर्ती ने ज्योंही इस काया की विकृति के दर्शन किये, त्योंही उनके मन में विरक्ति की ज्योत प्रकट हो गई थी ।

'अहो ! कितनी क्षणभंगुर व विकृतियों से भरी हुई यह काया है जो पहले इतनी सुन्दर व आकर्षक थी, उसी में से अब बदबू आ रही है ।' सम्यग्ज्ञान रूपी चक्षु द्वारा उन्होंने काया के स्वरूप का वास्तविक दर्शन किया और तुरन्त ही संसार के बन्धनों का त्याग कर वे वीतराग-पंथ के पथिक बन गए ।

700 वर्ष तक उन्होंने उन रोगों को समतापूर्वक सहन किया । अरे ! देवताओं ने आकर परीक्षा की । वैद्य के रूप में आकर एक देव ने जब शारीरिक-चिकित्सा के लिए निवेदन किया, तब वे यही बोले, ``मुझे

काया के रोगों की फिक्र नहीं है, मुझे आत्मरोगों की चिन्ता है, यदि तुम उन रोगों को दूर करने में समर्थ हो तो मेरी चिकित्सा करो।''

आखिर वैद्य के रूप में रहे देव को कहना पड़ा, ``आत्म-चिकित्सा का वह सामर्थ्य मुझ में नहीं है।''

अपना मूल स्वरूप प्रकट करते हुए देव ने कहा, ``धन्य है आपकी समत्व साधना को, इन्द्र महाराजा ने आपकी जैसी प्रशंसा की थी, वैसी ही समता के आप धनी हो'' इतना कहकर नत-मस्तक होकर देव ने वहाँ से विदाई ली।

'वैराग्यशतक' ग्रंथ के कर्ता हमें जगत् के यथार्थ स्वरूप के दर्शन करा रहे हैं। वे कहते हैं- ***``मृत्यु तुमसे दूर नहीं है, मृत्यु तो तुम्हारे साथ ही चल रही है, जिस प्रकार व्यक्ति की छाया व्यक्ति को छोड़कर दूर नहीं रहती है, वह तो जहाँ जाए, साथ ही रहती है, उसी प्रकार मृत्यु भी छाया के बहाने अपने साथ चल रही है।''***

'जेबकतरे' के बारे में शायद सुना होगा ? वह साथ ही चलता है और अवसर देखकर चुपके से जेब काट देता है। बस, इसी प्रकार मृत्यु अपने साथ ही चल रही है। वह सतत हमारे छिद्र शोध रही है। अवसर पाते ही वह अपना हमला कर देती है और हमारे स्वामित्व व सम्बन्धों को तोड़ देती है।

एक लेखक ने लिखा है, ``जन्म के साथ मौत निश्चित होती है, फिर भी डॉक्टर या स्वजन यह बात तभी कहते हैं, जब वह मौत के अति निकट पहुँच गया हो।'' परन्तु सत्य तो यह है कि जन्म के साथ ही बच्चे के लिए यह कह देना चाहिए **``यह जो बच्चा पैदा हुआ है, वह अब बच नहीं सकेगा।''**

शास्त्र में भी कहा गया है–

``जीवात्मा का आवीचिमरण प्रतिसमय चालू है।''

जन्म से ही मृत्यु हमारे साथ चल रही है, परन्तु अज्ञान व मोह के कारण उस मृत्यु के दर्शन हम नहीं कर पाते हैं।

अज्ञानी और ज्ञानी में यही तो अन्तर है कि अज्ञानी वस्तु के मात्र वर्तमान सुन्दर पर्याय का दर्शन कर उस वस्तु के प्रति राग कर बैठता है, जबकि ज्ञानी व्यक्ति वस्तु के मूल द्रव्य का विचार कर वस्तु के प्रति विरक्ति का भाव धारणा करता है।

ठीक ही कहा है–

मधुरं रसमाप्य स्यन्दते, रसनायां रसलोभिनां जलम् ।
परिभाव्य विपाकसाध्वसं, विरतानां तु ततो दृशिजलम् ।।

अर्थ : मधुर रस (स्वादिष्ट भोजन) को देखकर रस के लोभियों (अज्ञानियों) की जीभ में रस टपकता है और उसी मधुर रस को देखकर, उसके परिणामनशील स्वभाव का विचार कर विरक्त पुरुषों (ज्ञानीजनों) की आँखों में आँसू गिरते हैं अर्थात् वे वस्तु के वर्तमान पर्याय में राग भाव धारण नहीं करते हैं ।

प्रत्येक व्यक्ति अपने 25-50 वर्ष के जीवन में अनेक व्यक्तियों और वस्तुओं के साथ स्वामी-सेवक, पिता-पुत्र, पति-पत्नी, मामा-भांजा, चाचा-भतीजा, भाई-भाई आदि विविध प्रकार के सम्बन्ध जोड़ता है और ज्योंही सम्बन्धों के दृढ़ीकरण के लिए प्रयत्न करता है, मृत्यु रूपी कैंची उन समस्त सम्बन्धों को क्षण भर में काट देती है और उनके कट जाने पर व्यक्ति का वस्तु पर रहा हुआ स्वामित्व भी नष्ट हो जाता है ।

सतत साथ में रही मृत्यु को भी 'जिनधर्म' रूपी हथियार द्वारा नष्ट किया जा सकता है ।

'शांत सुधारस' में जिनधर्म से प्रार्थना करते हुए कहा गया है-

पालय पालय रे, पालय मां जिनधर्म !
शिवसुखसाधन, भवभयबाधन, जगदाधारगम्भीर ! पालय ।

''हे जिनधर्म ! मेरा पालन करो, पालन करो । तुम ही शिवसुख के साधन हो, भव के भय से मुक्त कराने वाले हो, जगत् के आधार हो और गम्भीर हो ।''

मिटिया चुन चुन महल बंधाया,
बंदा कहे घर मेरा,
एक दिन बंदा उठ चलेंगे,
यह घर तेरा न मेरा ।।

कालम्मि अणाईए, जीवाणं विविह-कम्म-वसगाणं,
तं नत्थि संविहाणं, संसारे जं न संभवइ ।।10।।

शब्दार्थ

कालम्मि=काल में,	**नत्थि**=नहीं है,
अणाईए=अनादि,	**संविहाणं**=पर्याय,
जीवाणं=जीवात्मा को,	**संसारे**=संसार में,
विविह=नाना प्रकार के,	**जं न**=जो नहीं,
कम्म-वसगाणं=कर्मों के आधीन,	**संभवइ**=संभवित हो ।
तं=ऐसा कोई,	

अर्थ : अनादिकालीन इस संसार में नाना कर्मों के अधीन जीवात्मा को ऐसा कोई पर्याय नहीं है, जो संभवित न हो ।

विवेचन : प्रस्तुत गाथा में कर्माधीन आत्मा की दुर्दशा का चित्रण प्रस्तुत किया गया है । संसार में ऐसी कोई अवस्था या पर्याय नहीं है, जो संसारी आत्मा ने प्राप्त नहीं की हो ।

दुनिया में भी देखते हैं-जो गुलाम होता है, उसकी कैसी-कैसी दुर्दशा होती है ! बस, यही हालत कर्माधीन आत्मा की है ।

जन्म धारण करना आत्मा का स्वभाव नहीं है, फिर भी कर्म की पराधीनता के कारण उसे अन्य-अन्य योनि में जन्म धारण करना पड़ता है ।

'मृत्यु' आत्मा का स्वभाव नहीं है, फिर भी कर्म की पराधीनता के कारण उसे बार-बार मरना पड़ता है ।

जरावस्था, रोग-शोक, आधि-व्याधि-उपाधि आदि आत्मा के स्वभावभूत धर्म नहीं हैं, फिर भी कर्म की पराधीनता के कारण आत्मा को उस प्रकार की पीड़ाएँ सहन करनी पड़ती हैं । अहो ! कितना अधिक आश्चर्य है ! आत्मा अनन्त शक्ति की स्वामी होते हुए भी उसे कर्मराजा एक नट की भाँति नचाता है ।

देवगति और नरकगति तो परोक्ष हैं, उनकी पीडाओं को हम साक्षात् नहीं देख सकते हैं । मनुष्य और तिर्यंच की पीड़ाएँ तो प्रत्यक्ष हैं न !

कत्लखाने में चीरे जाने पर पशु की क्या हालत होती होगी ?

जीवित सूअर को अंगारों पर सेक दिया जाता है, तब उसकी क्या हालत होती होगी ?

जीवित सर्प की चमड़ी उतार दी जाती है, तब उसे कितनी पीड़ा होती होगी ! शिकारी, पशुओं को बाण से बींध देते हैं, तब उन पशुओं को कितनी पीड़ा होती होगी !

केंसर के दर्दी की कराहें सुनी होंगी ! टी.बी., डायबिटीज, अलसर, ब्लडप्रेशर, हार्टअटेक आदि रोगों के दर्दियों को देखा होगा !

रेल, प्लेन, बस, ट्रक आदि के भयंकर एक्सीडेंट के समय मानवों की जो दुर्दशा होती है, उसे शायद देखा होगा ?

दुष्काल, अतिवृष्टि, बमवर्षा, अग्निप्रकोप आदि के समय जो भयंकर नरसंहार होता है, उस समय मनुष्यों की जो हालत होती है, उसकी हम कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। ग्रन्थकार महर्षि फरमाते हैं कि इस संसार में अन्यअन्य जीवों की जो पर्यायें हमें दिखाई देती हैं, उन सब पर्यायों का अनुभव हमारी आत्मा ने किया है।

संसार में आत्मा का अस्तित्व अनादिकाल से हैं और संसार में आत्मा और कर्म का संयोग भी अनादिकाल से है। अज्ञानता और मोह के कारण प्रत्येक आत्मा प्रति समय नये-नये कर्मों का बन्धन करती जा रही है और उन कर्मों के उदय के फलस्वरूप नाना प्रकार के जन्म धारण करती रहती है। कभी यह आत्मा देव बनती है तो कभी मनुष्य। कभी पशु का जन्म धारण करती है तो कभी पक्षी का, कभी नरक में जाती है तो कभी निगोद में। कभी पुरुष के रूप में जन्म धारण करती है, कभी स्त्री के रूप में, तो कभी नपुंसक के रूप में। कभी राजा बनती है तो कभी रंक। कभी अत्यन्त शक्तिशाली के रूप में जन्म लेती है तो कभी अत्यन्त कमजोर प्राणी के रूप में।

संसार उसी का नाम है जहाँ आत्माएँ एक गति से दूसरी गति में गमन करती रहती हैं।

संसार के भयंकर और विषम स्वरूप को जानने के बाद भी जिसे संसार के प्रति रूचि पैदा हो...संसार व संसार के तुच्छ सुखों के प्रति आकर्षण पैदा होता हो, उसे **'भवाभिनन्दी'** समझना चाहिए। ऐसे भवाभिनन्दी जीवों को मोक्ष के प्रति कोई रुचि नहीं होती है। भवाभिनन्दी जीवों में क्षुद्रता, लोभ-रति, दीनता, मत्सरता, भय, शठता तथा अज्ञानता आदि आठ दोष होते हैं। ऐसी भवाभिनन्दी आत्माएँ भव-चक्र में सतत परिभ्रमण करती रहती हैं। जिसके दिल में संसार के प्रति विरक्ति का भाव होता है और जिसके दिल में एक मात्र मुक्ति-सुख की ही तीव्र अभिलाषा हो, उसे मोक्षाभिनन्दी कहते हैं।

बंधवा सुहिणो सव्वे, पिअ-माया-पुत्त-भारिया ।
पेयवणाउ नियत्तंति, दाऊणं सलिलंजलिं ।।11।।

शब्दार्थ

बंधवा=बान्धव,	**भारिया**=पत्नी,
सुहिणो=मित्र,	**पेयवणाउ**=श्मशान भूमि से,
सव्वे=सभी,	**नियत्तंति**=लौट आते है,
पिअ=पिता,	**दाऊणं**=देकर,
माया=माता,	**सलिलंजलिं**=जलांजलि ।
पुत्त=पुत्र,	

अर्थ : सभी बान्धव, मित्र, पिता, माता, पुत्र, पत्नी आदि मृतक के प्रति जलांजलि देकर श्मशानभूमि से वापस अपने घर लौट आते हैं ।

विवेचन : अज्ञानता और मोह के कारण व्यक्ति यह आशा रखता है कि मेरे स्वजन आदि मेरे दु:ख में सहायक बनेंगे, परन्तु आपत्ति व मृत्यु के समय यह भ्रम खंडित हो जाता है ।

ठीक ही कहा है-

कौन याद करता है, अंधेरे वक्त के साथी को ।
सुबह होते ही लोग, चिराग बुझा देते हैं ।।

रात्रि में अंधेरा पड़ने पर दीपक को सभी याद करते हैं, परन्तु ज्योंही सूर्य उदय होता है, उस दीपक को बुझा देते हैं । दिन भर में उसे कोई याद नहीं करता है । बस, इसी प्रकार संसार में भी जब तक स्वार्थ की सिद्धि होती है, तभी तक सभी व्यक्ति प्रेम करते हैं और कार्यसिद्धि हो जाती है, तब उसे दूर फेंक देते हैं, भूल जाते हैं ।

संसार के स्वजन वास्तव में स्वजन कहाँ हैं ?

याद आ जाती हैं कवि की ये पंक्तियाँ-

धन दौलत ज्यां ने त्यां रहशे,
नारी आंगणियेथी वलशे,
मसाणसुधी बांधव भलशे,
काया राख बनी ने ढलशे,
वियोग सौ व्हालाना पडशे,
छूटशे ज्यारे प्राण....!

``मुझे तो तू प्राण से भी प्यारा है'' इस प्रकार की डींग हाँकनेवालें मृत्यु के समय कोई साथ नहीं चलते हैं । अतः संसार के सम्बन्धियों में तीव्र राग या आसक्ति नहीं करनी चाहिए ।

आप जानते ही हो कि संसार के सम्बन्धी देह के सम्बन्धी हैं, जब तक इस देह का अस्तित्व है तभी तक वे सम्बन्ध जीवित रहते हैं, देह के नाश के साथ ही वे सब सम्बन्ध नष्ट हो जाते हैं । इसीलिए तो ज्ञानी महापुरुषों ने अपने स्वरुप की सतत जागृति कराने के लिए **'संथारा पोरिसी'** में याद कराया है-

एगोऽहं, नत्थि मे कोइ, नाहमन्नस्स कस्सइ ।
एवं अदीणमणसो, अप्पाणमणुसासइ ।।

अर्थ : मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, मैं किसी का नहीं हूँ, इस प्रकार अदीन मन से आत्मा का अनुशासन करना चाहिए ।

व्यक्ति या वस्तु के प्रति जहाँ दिल में ममत्व-बुद्धि जागृत होती है, वहीं उस वस्तु की प्राप्ति में राग और नाश में शोक पैदा होता है । जिस वस्तु के प्रति ममत्व-बुद्धि नहीं होगी, उस वस्तु की प्राप्ति में न तो राग होगा और न ही उस वस्तु के नाश में शोक होगा ।

'एगोऽहं' अर्थात् मैं एक मात्र आत्मा हूँ । आत्मा की गुण-सम्पत्ति ही मेरी है । दुनिया की कोई सम्पत्ति मेरी नहीं है । ``सांसारिक व्यक्ति या वस्तु के प्रति जो स्वामित्व का भाव पैदा होता है वह वास्तविक नहीं, किन्तु औपचारिक है ।'' इस सनातन सत्य की अज्ञानता के कारण ही मोहाधीन आत्मा इष्ट वस्तु या व्यक्ति के संयोग में खुश होती है और उसके वियोग में अत्यन्त दुःखी होती है । परन्तु जिसे इस सनातन सत्य का सम्यग् अवबोध हो गया है, उसे अनुकूल या प्रतिकूल संयोग-वियोग में कोई हर्ष-शोक नहीं होता है । क्योंकि वह जानता है कि संसार के सभी संयोग, वियोग में परिणत होने वाले हैं । सभी सानुकूल संयोगों के पीछे वियोग की तलवार लटक ही रही है, अतः इन संयोगों में खुश होने की कोई आवश्यकता नहीं है ।

ग्रन्थकार महर्षि ने ठीक ही कहा है कि **``संसार के स्वजन श्मशान भूमि में जलांजलि देकर निवृत्त हो जाते हैं ।''** अनन्त की इस यात्रा में जो हमारे साथी नहीं हैं, उनके राग में डूब जाना कोई बुद्धिमत्ता थोड़े ही है ।

विहडंति सुआ विहडंति, बंधवा वल्लहा य विहडंति ।
इक्को कह वि न विहडइ, धम्मो रे जीव ! जिण-भणिओ ।।12।।

शब्दार्थ

विहडंति=वियोग होता है,
सुआ=पुत्रों का,
बंधवा=बन्धुओं का,
वल्लहा=पत्नी का,
इक्को=एक मात्र,
कह वि=कभी भी,
न विहडइ=वियोग नहीं होता है,
धम्मो=धर्म,
रे जीव !=हे आत्मन !
जिण-भणिओ=जिनेश्वर भगवंत के द्वारा बाताया ।

अर्थ : हे आत्मन् ! इस संसार में पुत्रों का वियोग होता है, बन्धुओं का वियोग होता है, पत्नी का वियोग होता है, एक मात्र जिनेश्वर भगवन्त के धर्म का कभी वियोग नहीं होता है ।

विवेचन : सामान्यत: संसारी जीवों को पुत्र-पत्नी आदि पर अधिक राग होता है, परन्तु मृत्यु द्वारा एक दिन उन सबका वियोग हो जाता है ।

परलोक की यात्रा में कुटुम्ब में से कोई भी साथ आने वाला नहीं है इस सनातन सत्य की अज्ञानता के कारण ही आत्मा संसारी-कुटुम्बीजनों के राग में फँसकर धर्म का त्याग कर देती है ।

प्रसंगवश याद आ जाती है एक श्रेष्ठि-पुत्र की घटना ।

◆ संत ने उस सेठ के इकलौते पुत्र को संसार की स्वार्थ-मूलकता का स्वरूप समझाया । परन्तु वह युवा मानने के लिए तैयार नहीं था । अंत में संत ने उसे प्रयोग द्वारा सिद्ध कर समझाया । संत ने कहा-``घर जाकर द्वार पर एकदम नीचे गिर जाना, फिर बोलना-चलना बंद कर देना । किसी प्रकार की औषधि ग्रहण मत करना । संध्या समय मैं आऊँगा । संसार के संबंधियों का तुझे यथार्थ दर्शन कराऊँगा ।''

संत के निर्देशानुसार उस युवक ने वैसा ही किया । घर आते ही वह धड़ाम् से नीचे गिर पड़ा । चारों ओर हाहाकार मच गया । उसे उठाकर पलंग पर सुलाया गया । अनेक उपचार करने पर भी वह स्वस्थ नहीं हो पाया ।

संध्या समय वे संत उस सेठ की हवेली के पास से गुजरे । सेठ ने संत को आग्रह करते हुए कहा-``कृपावतार ! मेरा पुत्र अत्यन्त दयनीय स्थिति में है, आप कृपा कर उसका इलाज करें ।''

संत ने सेठ की बात स्वीकार कर ली । संत ने पानी से भरा एक प्याला मंगाया और धूप-दीप आदि कर पर्दे में बैठकर मंत्र-जाप करने लगा । थोड़ी देर बाद संत बाहर आए और बोले, ``आपके इस पुत्र पर पैशाचिक उपद्रव है, मैंने अपनी मंत्र-शक्ति से पिशाच को वश किया है, यदि आप इसे बचाना चाहते हो तो कोई भी व्यक्ति यह प्याला पी ले । प्याला पीने वाला व्यक्ति थोड़ी देर में मर जायेगा ।'' संत की यह शर्त सुनकर सभी एक-दूसरे का मुँह ताकने लगे । किंतु कोई भी व्यक्ति उस प्याले को पीने के लिए तैयार नहीं हुआ ।

आखिर संत ने कहा, ``अच्छा, यदि कोई भी तैयार नहीं होता हो तो यह प्याला मैं पी जाता हूँ ।'' संत की यह बात सुनते ही सभी खुश हो गए । तत्क्षण संत ने वह प्याला पी लिया । उसी समय श्रेष्ठि-पुत्र भी शय्या पर से खड़ा हो गया और संत के साथ-साथ चलने लगा । पुत्र को संत के पीछे जाते देख सभी उसका हाथ पकड़ कर कहने लगे, ``बेटा ! तू कहाँ जाता है ? तेरे बिना हम कैसे जीवित रहेंगे ?''

युवक ने कहा, ``मैंने आपका स्नेह पहिचान लिया है, आपका प्रेम स्वार्थ से भरा हुआ है, अब मैं नि:स्वार्थ प्रेम करने वाले संत के साथ जाऊँगा ।'' इतना कहकर वह युवक संत के साथ चल पड़ा ।

संसार के संबन्धी मोहवश होकर यही बात करते हैं कि ``तेरे बिना हम कैसे रहेंगे ?'' परन्तु याद रखना, मृत्यु के समय उनमें से कोई साथ चलने वाला नहीं है ।

जीवन का सच्चा साथी जिनधर्म ही है । वही परलोक में साथ देने वाला है, जिसने जिनधर्म को स्वीकार किया है, उसे मृत्यु का कोई भय नहीं रहता है । उसके लिए तो मृत्यु भी एक महोत्सव बन जाता है ।

धर्म श्री जिनराज केरो, मेलव्यो शुभ भाग्यथी,
केलवो संयम स्वभावे, चरण चालो भावथी,
सुखडा रुडा छे मुक्ति केरो, ए चहो भावे चाहथी,
आत्म कमले लब्धि लेवा, दूर रहो भव दाहथी ।

अडकम्म-पासबद्धो, जीवो संसार-चारए ठाइ ।
अडकम्म-पासमुक्को, आया सिवमंदिरे ठाइ ।।13।।

शब्दार्थ

अडकम्म=आठ कर्म,	**ठाइ**=रहता है,
पासबद्धो=पाश से बँधा,	**पासमुक्को**=पाश से मुक्त हुआ,
जीवो=जीव,	**आया**=आत्मा,
संसार=चार गति रुप संसार,	**सिवमंदिरे**=मोक्ष में ।
चारए=कैद में,	

अर्थ : आठ कर्म रूपी पाश से बँधा हुआ जीव संसार की कैद में रहता है और आठ कर्म के पाश से मुक्त हुआ जीव मोक्ष में जाता है ।

विवेचन : राग-द्वेष के कारण आत्मा शुभ-अशुभ कर्मों का बंध करती है । इन्हीं कर्मों के उदय से आत्मा इस संसार में सुख-दु:ख का अनुभव करती है ।

ये शुभ-अशुभ कर्म ही आत्मा के लिए जटिल बंधन रूप हैं । इनके बंधन से ग्रस्त आत्मा इस संसार में अन्य-अन्य रूप व भव को धारणकर भटकती रहती है ।

जब तक आत्मा कर्म के बंधन से सर्वथा मुक्त न हो, तब तक आत्मा इस संसार में भटकती रहती है, जब आत्मा इन कर्मों के बंधन से सर्वथा मुक्त हो जाती है, तब वह शाश्वत, अजरामर मोक्ष में पहुँच जाती है, जहाँ जाने के बाद वह जन्म-मरण के बंधन में से सर्वथा मुक्त हो जाती है ।

मोक्ष में अनंत काल तक रहने का है । इतनी दीर्घ स्थिति होने पर भी वहाँ उसे किसी भी प्रकार की तकलीफ नहीं है ।

आठ कर्म :- (1) ज्ञानावरणीय कर्म : आत्मा में अनंत ज्ञान गुण रहा हुआ हैं, परंतु यह कर्म आत्मा के ज्ञान गुण पर आवरण ला देता है, जिसके फल स्वरुप आत्मा में अज्ञानता, मंद-बुद्धि, पागलपन आदि दोष पैदा होते है ।

(2) दर्शनावरणीय कर्म : आत्मा में अनंत दर्शन गुण रहा हुआ है । इस कर्म का उदय आत्मा के 'दर्शन' गुण को रोकता है । जिससे ज्ञान के साधनभूत इंद्रियों की हानि और निद्रा आदि दोष पैदा होते हैं ।

(3) वेदनीय कर्म : आत्मा में अनंत अव्याबाध सुख रहा हुआ है। इस कर्म के उदय के कारण जीव को आधि, व्याधि और उपाधि की पीड़ा सहन करनी पड़ती है। संसार के क्षणिक सुख भी इसी कर्म के उदय से प्राप्त होते है।

(4) मोहनीय कर्म : यह कर्म आत्मा को भ्रमित करता है। इस कर्म के उदय से आत्मा में क्रोध आदि कषाय और काम आदि विकार भाव पैदा होते है। इस कर्म के बंधन के टूटने से आत्मा राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त बनती है और आत्मा वीतराग बनती है।

(5) आयुष्य कर्म : यह कर्म आत्मा को एक कैदी की भांति एक भव में जकड़े रखता है। यह कर्म 'आत्मा की अक्षय-स्थिति' गुण को रोकता है। मरना यह आत्मा का स्वभाव नहीं हैं फिर भी इस संसार में आत्मा को मरना पडता है।

(6) गोत्र कर्म : आत्मा का मूलभूत स्वभाव अगुरुलघु है, परंतु इस कर्म के उदय के कारण आत्मा ऊँची-नीची स्थिति प्राप्त करती है।

(7) नाम कर्म : आत्मा का मूल भूत स्वभाव अरुपी हैं, परंतु, इस कर्म के उदय के कारण इस संसार में आत्मा विविध रुप धारण करती है।

(8) अंतराय कर्म : आत्मा में अनंत वीर्य गुण रहा हुआ है। यह कर्म आत्मा के इस गुण को रोकता है।

जब तक आत्मा इस संसार में आठ कर्मों के बंधन से जकडी हुई होती है, तब तक आत्मा इस संसार में भटकती रहती हैं और ज्योंहि इन कर्मों के बंधन से मुक्त होती हैं, त्योंहि सदा के लिए अजरामर मोक्ष प्राप्त कर लेती है।

केई केई नाच नचावे करमचंद, केई केई नाच नचावे,
ए अचरिज मन पावे करमचंद, केई केई नाच नचावे
आदि जिनेश्वर अंतरयामी, दुआ आदिना कर्ता,
तुम पसाये आहार ने काजे, रह्या वरस लगे फिरता।

विहवो सज्जणसंगो, विसयसुहाइं विलासललिआइं ।
नलिणी-दलग्ग-घोलिर-जललव परिचंचलं सव्वं ।।14।।

शब्दार्थ

विहवो=वैभव,	**दलग्ग**=पत्र का अग्र भाग,
सज्जणसंगो=स्वजनो का संग,	**घोलिर**=कंपने के स्वभाव वाला,
विसयसुहाइं=वैषयिक सुख,	**जललव**=जल बिन्दु,
विलासललिआइं=विलास से मनोहर,	**परिचंचलं**=अत्यंत ही चंचल,
नलिणी=कमल,	**सव्वं**=सभी पदार्थ ।

अर्थ : वैभव, स्वजनों का संग, विलास से मनोहर सभी सुख कमल के पत्र के अग्रभाग पर रहे जलबिंदु की भांति अत्यंत ही चंचल हैं ।

विवेचन : कमल के पत्ते के अग्र भाग पर रहे जलबिंदु का अस्तित्व कितनी देर तक रहता है ! सूर्य की एक किरण का स्पर्श होते ही वह जलबिंदु समाप्त हो जाता है अथवा पवन का एक झोंका आते ही उस जलबिंदु का अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हो जाता है ।

बस, इस संसार में धन-संपत्ति आदि का जो वैभव दिखाई देता है, वह भी जलबिंदु की भाँति अत्यंत ही चपल, चंचल और अस्थिर है । जिस प्रकार मोती की तरह चमकता हुआ वह जलबिंदु क्षणभर में अदृश्य हो जाता है, उसी प्रकार यह वैभव भी चंद क्षणों में नष्ट हो जाने के स्वभाव वाला है, ऐसे क्षणिक वैभव का क्या विश्वास करना ! जब उसका अस्तित्व ही रहनेवाला नहीं है तो उस वैभव की क्या अपेक्षा रखना ! माता-पिता आदि स्वजनों का मेला भी स्थायी नहीं है । कौन कब विदाई ले लेगा, कुछ भी पता नहीं है ।

संसार के सारे भोग विलास क्षण-विनश्वर हैं ।

वैभव, स्वजन संग और विषय सुख के सभी विलास अनित्य अर्थात् नाशवंत है । उनकी क्षण-भंगुरता का विचार करने से आत्मा में वैराग्य भाव पैदा होता है ।

मोक्ष मार्ग की साधना का मूल ही **'वैराग्य भाव'** है । जब तक संसार के बाह्य पदार्थों के प्रति वैराग्यभाव नहीं होगा, तब तक आत्मविकास के मार्ग में प्रगति संभव नहीं है । अनादि काल से धन-वैभव आदि के प्रति आत्मा में जो राग-भाव पडा हुआ हैं, उस राग भाव को तोडने के लिए जीवन में वैराग्य भाव को पुष्ट करना बहुत जरुरी है । बाह्य पदार्थों में रही अनित्यता के दर्शन से आत्मा में वैराग्य भाव पुष्ट होता है ।

तं कत्थ बलं तं कत्थ, जुव्वणं अंगचंगिमा कत्थ ?
सव्वमणिच्चं पिच्छह, दिट्ठं नट्ठं कयंतेण ।।15।।

शब्दार्थ

तं=वो,
कत्थ=कहा गया,
बलं=शरीर का बल,
जुव्वणं=यौवन,
अंगचंगिमा=सौन्दर्य,
सव्वं=सब कुछ,
अणिच्चं=अनित्य
पिच्छह=देखो,
दिट्ठं=देखा हुआ,
नट्ठं=तहस नहस किया हुआ,
कयंतेण=कृतान्त के द्वारा ।

अर्थ : शरीर का बल कहाँ गया ? वह जवानी कहाँ चली गई ? शरीर का सौंदर्य कहाँ चला गया ? काल इन सभी को तहस नहस कर देता है, अतः सब कुछ अनित्य है, ऐसा समझो ।

विवेचन : सूर्य के ताप अथवा अग्नि के पास में रहा हुआ पानी धीरे धीरे कम होता जाता है। अग्नि पानी का शोषण करती है। बस, इसी प्रकार यह काल भी सभी पदार्थों का शोषक है। यह काल शरीर का शोषण करता है। ज्यों-ज्यों समय जाता है, त्यों-त्यों इस शरीर का रूप-सौंदर्य आदि सब कुछ क्षीण होने लगता है।

समय बीतने पर व्यक्ति का शरीर कमजोर हो जाता है; समय बीतने पर यौवन की शक्ति क्षीण हो जाती है। समय बीतने पर देह का सौंदर्य समाप्त हो जाता है।

संसार के ये सारे पदार्थ अनित्य हैं, उन सब पदार्थों पर अनित्यता का Lable लगा हुआ है। परंतु यह मूढ़ मानव पदार्थों की अनित्यता को मानता नहीं है, समझता नहीं है। पदार्थों में नित्यता की कल्पना कर वह उसमें खूब आसक्त बन जाता है। परंतु समय बीतता है और आखिर वह सत्य बाहर आता है।

बालक जब युवावस्था में प्रवेश करता हैं, तब उसका रुप-सौंदर्य खिल उठता है, परंतु उस रुप की चमक अल्प काल के लिए ही रहती है। ज्योंहि वृद्धावस्था काया को घेर लेती है, मानवी का रुप-सौंदर्य समाप्त हो जाता है। वृद्धावस्था के साथ शारीरिक शक्ति से भी मानव कमजोर हो जाता है। वृद्धावस्था शारीरिक शक्ति का शोषण कर देती है।

काल यह मानव के बल, यौवन और सौंदर्य का शोषण करता है। अतः उन क्षणिक पदार्थों के प्रति निरर्थक राग-भाव क्यों रखना ?

घण-कम्म-पास-बद्धो, भवनयर चउप्पहेसु विविहाओ ।
पावइ विडंबणाओ, जीवो को इत्थ सरणं से ? ।।16।।

शब्दार्थ

घण=गाढ़,	**पावइ**=प्राप्त करता है,
कम्म=कर्म के,	**विडंबणाओ**=विडंबनाएँ,
पास=पाश से,	**जीवो**=यह जीव,
बद्धो=बँधा हुआ,	**को**=कौन है,
भवनयर=संसार रुपी नगर में,	**इत्थ**=यहा,
चउप्पहेसु=चार गति रुप मार्ग में,	**सरणं**=शरण देने वाला
विविहाओ=विविध प्रकार की,	**से**=उसको ।

अर्थ : गाढ़ कर्म रूपी पाश से बँधा हुआ जीव इस संसार रूपी नगर के चार गति रूप मार्ग में अनेक प्रकार की विडंबनाएँ प्राप्त करता है, यहाँ उसको शरण देनेवाला कौन है ?

विवेचन : Jail में रहे कैदी को अनेक प्रकार की विडंबनाएँ सहन करनी पड़ती हैं, उसी प्रकार इस संसार की कैद में रहे संसारी जीव को भी चारों ओर भयंकर विडंबनाएँ सहन करनी पड़ती हैं ।

जन्म धारण करना आत्मा का स्वभाव नहीं है, फिर भी इस संसार में आत्मा को जन्म की पीड़ाएँ सहन करनी पड़ती हैं । मरना यह आत्मा का स्वभाव नहीं है, फिर भी इस संसार में आत्मा को मौत की सजा सहन करनी पड़ती है ।

वृद्ध होना, यह आत्मा का स्वभाव नहीं है, फिर भी इस संसार में जीवात्मा को वृद्धावस्था की पीड़ाएँ सहन करनी पड़ती है । आत्मा स्वभाव से रोग रहित है, परंतु इस संसार में जीवात्मा अनेक प्रकार के रोगों का शिकार बनती है ।

ज्ञान यह आत्मा का मूलभूत स्वभाव है, फिर भी इस संसार में जीवात्मा को अज्ञानी, मूर्ख, नासमझ आदि के इल्काब लगते हैं । अखंड आनंद और परमात्म-स्वरूप इस आत्मा को जगत् के चौगान में कितनी भयंकर वेदनाएँ, यातनाएँ और विडंबनाएँ सहन करनी पड़ती हैं, जिसका कोई हिसाब नहीं है ।

संसार की विडंबनाओं को पराधीन अवस्था में सहन करते हुए जीव को कोई भी व्यक्ति या पदार्थ शरणभूत नहीं है । ऐसे संयोगों में एक मात्र जैन धर्म ही आत्मा को शरण देने में सक्षम है, अत: उसी की शरण स्वीकार करनी चाहिये । जिन धर्म की शरण ही आत्मा को सुरक्षा दे सकती है ।

घोरंम्मि गब्भवासे, कलमल-जंबाल-असुइ-बीभच्छे ।
वसिओ अणंतखुत्तो, जीवो कम्माणु-भावेण ॥17॥

शब्दार्थ

घोरंम्मि=भयंकर,	**बीभच्छे**=बिभत्स,
गब्भवासे=गर्भावास में,	**वसिओ**=रहा है,
कलमल=वीर्य और मल रुपी,	**अणंतखुत्तो**=अनंतबार,
जंबाल=कीचड़,	**जीवो**=जीवात्मा,
असुइ=अशुचि से,	**कम्माणु-भावेण**=कर्म के प्रभाव से ।

अर्थ : कर्म के प्रभाव से यह जीव वीर्य और मल रूपी कीचड़ की अशुचि से भयानक ऐसे गर्भावास में अनंतबार रहा है ।

विवेचन : देव के उत्पत्तिस्थान में अथवा देव के निवासस्थान में या शरीर में कहीं लेश भी अशुचि को स्थान नहीं होता है । देवताओं का शरीर वैक्रिय वर्गणा के पुद्‌गलों से बना होता है, उसमें कहीं भी अशुचि को स्थान नहीं होता है । ऐसे श्रेष्ठ देहधारी देव को भी अपने आयुष्य की समाप्ति के बाद मानव या तिर्यंच देह में आना पड़ता है ।

स्त्री के देह में जब किसी आत्मा का अवतरण होता है, तब वह स्थान चारों ओर से अशुचि से भरा होता है ।

जिस माँ के गर्भ में बालक की उत्पत्ति होती हैं, वहां चारों ओर अशुचि होती है । उसी अशुचि में, गर्भ में रहे बालक के शरीर की वृद्धि होती है । गर्भ में रहा बालक क्या खाता है ? माँ ने जो खाया हैं, उसी से गर्भ में रहा शिशु बढता है । गर्भावास की पीड़ा बहुत ही भयंकर है । गर्भ में चारों ओर अंधकार और भयंकर कैद !

अपनी आत्मा ने अनंतीबार इस कैद की सजा को सहन किया है ।

अब इस सजा में से मुक्त होना हो तो मोक्ष-मार्ग की आराधना साधना जरुरी है । मोक्ष-प्राप्ति के बिना इस पीडा का अंत आनेवाला नहीं हैं, इस जीवन में उसी के लिए प्रयत्न होना चाहिए ।

नौ-नौ मास तक गर्भ की पीडा सहन करने के बाद भी जन्म के बाद आत्मा उस पीडा को इस प्रकार भूल जाती है कि मानों उस पीडा की अनुभूति ही नहीं हुई हो ! इस पीडा से सर्वथा मुक्त होने का एक मात्र उपाय रत्नयत्री की आराधना-साधना ही है ।

चुलसीई किर लोए, जोणीणं पमुह-सय-सहस्साइं ।
इक्किक्कंमि अ जीवो, अणंतखुत्तो समुप्पन्नो ।।18।।

शब्दार्थ

चुलसीई=चौरासी,	**इक्किक्कंमि**=एक एक में,
किर=इस,	**अ**=भी,
लोए=लोक में,	**जीवो**=यह जीव,
जोणीणं=जीव का उत्पत्ति स्थान-योनि,	**अणंतखुत्तो**=अनंतबार,
पमुह=प्रमुख,	**समुप्पन्नो**=पैदा हुआ है ।
सय-सहस्साइं=लाख,	

अर्थ : इस संसार में जीव को उत्पन्न होने के लिए चौरासी लाख योनियाँ हैं । इन सब में यह जीव अनंती बार पैदा हुआ है ।

विवेचन : इस संसार में पृथ्वीकाय के जीवों को उत्पन्न होने की 7 लाख योनियाँ हैं, अर्थात् 7 लाख योनियों में पृथ्वीकाय के जीव पैदा होते हैं। इसी प्रकार अप्काय, तेउकाय और वायुकाय के जीवों को उत्पन्न होने की योनियाँ भी 7-7 लाख हैं; जबकि प्रत्येक वनस्पतिकाय की 10 लाख और साधारण वनस्पतिकाय की 14 लाख योनियाँ हैं । बेइन्द्रिय-तेइन्द्रिय और चउरिन्द्रिय जीवों के उत्पन्न होने की 2-2 लाख योनियाँ हैं ।

देवता, नारक और पंचेन्द्रिय तिर्यंच जीवों के पैदा होने की 4-4 लाख योनियाँ हैं । मनुष्य को पैदा होने की 14 लाख योनियाँ हैं । इस प्रकार इस संसार में भिन्न-भिन्न जीवों के उत्पन्न होने की 84 लाख योनियाँ हैं ।

इन 84 लाख जीव योनियों में एक भी योनि ऐसी नहीं है, जहाँ अपनी आत्मा ने अनंत बार जन्म नहीं लिया है । हर योनि में अपनी आत्मा पैदा हुई है और हर योनि में अपनी आत्मा मरी है ।

जब तक आत्मा संसार में है, तब तक उसे अन्य-अन्य योनियों में जन्म लेना ही पड़ता है । आत्मा का मोक्ष न हो तब तक अन्य-अन्य योनियों में जन्म-मरण की परंपरा चालू ही रहनेवाली है । उस परंपरा का अंत लाने के लिए मोक्ष-प्राप्ति जरुरी है । और उस मोक्ष की प्राप्ति के लिए प्रचंड पुरुषार्थ जरुरी है । उस मोक्ष पुरुषार्थ द्वारा ही आत्मा अपने संसार का अंत ला सकती है । मोक्ष हेतु आंशिक पुरुषार्थ अन्य गतियों में संभव हैं, परंतु मोक्ष हेतु संपूर्ण पुरुषार्थ मानव जन्म में ही शक्य है, अतः इस जन्म को पाकर उसी के लिए पुरुषार्थ करना चाहिये ।

माया-पिय-बंधूहिं, संसारत्थेहिं पूरिओ लोओ ।
बहुजोणि-निवासीहिं, न य ते ताणं च सरणं च ॥19॥

शब्दार्थ

माया=माता,
पिय=पिता,
बंधूहिं=बन्धु द्वारा,
संसारत्थेहिं=संसार में रहे हुए,
पूरिओ=भरा हुआ,
लोओ=यह लोक है,
बहुजोणि=चैरासी लाख योनि में,
निवासीहिं=बसे हुए,
न य=परंतु नहीं है,
ते=तेरा,
ताणं=रक्षण करनेवाला,
सरणं=शरण देनेवाला,
च=और ।

अर्थ : इस संसार में रहे हुए और चौरासी लाख योनि में बसे हुए माता-पिता व बंधु द्वारा यह लोक भरा हुआ है, परंतु रक्षण करनेवाला या शरण देनेवाला कोई नहीं है ।

विवेचन : इस संसार में अपने चारों ओर जितने भी जीव दिखाई देते हैं, वे सब भूतकाल में अपने माता-पिता आदि बन चुके हैं, इस प्रकार हम किसी भी भव में हो, हमारे चारों और भूतकाल में हुए माता-पिता आदि विद्यमान हैं, परंतु अपने ऊपर आयी शारीरिक या मानसिक आपत्ति के समय में उनमें से बचानेवाला या सहायता करनेवाला कोई नहीं है । उन सबके देखते-देखते ही हम रोग व मौत के शिकार बन जाते हैं । इस संसार में अपनी आत्मा को रक्षण देनेवाला कोई नहीं है, एक मात्र जिनधर्म ही हमें शरण देने और रक्षण करने में समर्थ है ।

ठीक ही कहा है-**'जिनधर्म विना नरनाथ ! नथी कोई मुक्तिनो साथ !'** जिनेश्वर परमात्मा का धर्म सच्चा धर्म है । उसी की शरणागति से हमारी आत्मा का रक्षण हो सकता है । संसारी जीव अपने विशाल परिवार में अपनी सुरक्षा की कल्पना करता हैं, परंतु विशाल परिवार के बीच भी आत्मा की सुरक्षा नहीं है । विशाल परिवार वाला मरकर स्वर्ग में ही जाता हो, ऐसा कोई नियम नहीं है ।

अतः, हे आत्मन् ! जो परिवार परलोक में साथ में आनेवाला नहीं हैं । मौत से बचानेवाला नहीं है, ऐसे परिवार के पीछे, पागल बनकर अपने जीवन की अमूल्य क्षणों को व्यर्थ में नष्ट मत करो, इसी में तुम्हारी बुद्धिमत्ता हैं ।

सांसारिक कुटुंब का संबंध एक भव का है । भव पूरा होते ही वह संबंध भी पूरा हो जाता है । भूतकाल के अनंत भवों में अनंत आत्माओं के साथ हमारी आत्मा ने सभी प्रकार के संबंध किये है । जो संबंध अस्थायी हैं, उनके पीछे इतना पागल बनने की क्या आवश्यकता है ?

जीवो वाहि-विलुत्तो, सफरो इव निज्जले तडप्फडइ ।
सयलो वि जणो पिच्छइ, को सक्को वेयणा-विगमे ? ॥20॥

शब्दार्थ

जीवो=यह जीवात्मा,	**सयलो**=सभी, **वि**=भी,
वाहि=व्याधि से,	**जणो**=स्वजन,
विलुत्तो=आक्रान्त,	**पिच्छइ**=देखते है,
सफरो=मछली,	**को**=कौन,
इव=की तरह,	**सक्को**=समर्थ है,
निज्जले=जल बिना के स्थान में,	**वेयणा**=वेदना,
तडप्फडइ=तड़फता है,	**विगमे**=दूर करने में ?

अर्थ : रोगों से आक्रांत यह जीव जल बिन मछली की भाँति तड़फता है, तब सभी स्वजन उसे रोग से पीड़ित देखते हैं फिर भी कोई भी उस वेदना को दूर करने में समर्थ नहीं होता है ।

विवेचन : मछली की सुरक्षा जल में रही हुई है । जल में से बाहर निकलते ही मछली तड़फती हैं और उस तड़फन में वह अपने प्राण छोड़ देती है ।

इस संसार में यह जीव जल रहित मछली की भाँति भयंकर रोगों से ग्रस्त होकर तड़फता है । उस समय उसके सारे स्वजन पास में खडे होते हैं । वे अपनी आँखों के सामने टी.बी., कैंसर, डायबिटिज्, हॉर्ट अटेक आदि अनेक भयंकर रोगों से ग्रस्त हुए अपने स्वजन को अपनी आँखों से देखते हैं, परंतु उनमें से कोई भी व्यक्ति उसके दु:ख-दर्द को लेता नहीं है ।

आदमी के कमाए हुए धन में परिवार के सभी सदस्य भागीदार बनते है, परंतु उस धन को कमाने में जो अन्याय, अनीति करके पाप का उपार्जन किया है, उस पाप में घर का कोई भी सदस्य भागीदार नहीं बनता है । पाप करनेवाले को ही पाप की सजा भुगतनी पडती है, अत:पाप से बचने के लिए सदैव प्रयत्नशील बनना चाहिये । आत्मा अकेली ही कर्म का बंध करती है और उस कर्म की सजा भी आत्मा अकेली ही भुगतती है ।

इस संसार में आत्मा को सुख-दु:ख देनेवाला अन्य कोई नहीं है । न कोई अपना हित करता है और न ही कोई अपना अहित करता है । आत्मा अपने किए हुए कर्मों के अनुसार ही सुख-दु:ख को प्राप्त करती है । अत: यदि अपना हित चाहते हो तो अपने आपको पाप प्रवृत्ति से बचाओं और अपनी आत्मा को हितकारी प्रवृत्ति में जोड़ों । पाप की प्रवत्ति छोडे बिना अपनी आत्मा का कभी शुभ होने वाला नहीं है ।

मा जाणसि जीव ! तुमं, पुत्त-कलत्ताइ मज्झ सुहहेउ ।
निउणं बंधण-मेयं, संसारे संसरंताणं ।।21।।

शब्दार्थ

मा=मत,	**सुहहेउ**=सुख का कारण,
जाणसि=मानो,	**निउणं**=तीव्र,
जीव !=हे जीवात्मा,	**बंधण-मेयं**=यह बन्धन है,
तुमं=तुम, **पुत्त**=पुत्र,	**संसारे**=संसार में
कलत्ताइ=स्त्री आदि में	**संसरंताणं**=भ्रमण करते हुए ।

अर्थ : हे जीव ! तू यह मत मान ले कि इस संसार में पुत्र, स्त्री आदि मुझे सुख के कारण बनेंगे । क्योंकि संसार में भ्रमण करते हुए जीवों को पुत्र-स्त्री आदि तीव्र कर्म बंध का ही कारण बनते हैं ।

विवेचन : यौवन वय में प्रवेश करने के बाद हर युवक के दिल में लग्न करने का मनोरथ होता है । अपनी मनपसंद कन्या के साथ जब उसका पाणिग्रहण हो जाता है, तब उसकी खुशी का पार नहीं रहता है ।

परंतु लग्न जीवन के स्वीकार के बाद उसकी इच्छा पुत्र-प्राप्ति की होती हैं । धन-संपत्ति-जमीन-जायदाद, पत्नी आदि सब कुछ हो परंतु पुत्र न हो तो भी जीवन शून्यसा प्रतीत होता है ।

रूपवती पत्नी और रूपवान् पुत्र को प्राप्तकर मनुष्य खुशी का अनुभव करता है, परंतु ग्रंथकार महर्षि कहते हैं कि वही पत्नी और वही पुत्र उसके लिए गाढ़ बंधन का कारण बन जाते हैं ।

पत्नी के प्रति रही आसक्ति गाढ़ कर्मबंधन का कारण बनती है, अत: आत्मा उससे अपना भावी संसार-परिभ्रमण ही खड़ा करती है ।

संसार में भटकती हुई आत्मा पुत्र-पत्नी आदि के संबंध जोडने की कोशिश करती है, परंतु वे संबंध सुख ही देंगे, ऐसी कोई गारंटी नहीं है । सभी माता-पिता अपने बेटे के लिए **'सपूत बेटे'** की आशा रखते हैं, परंतु वह बेटा कपूत भी निकल सकता है । पत्नी के लिए **'धर्मपत्नी'** की आशा रखता है, परंतु वह कर्मपत्नी भी बन सकती है और पति को **'बेवफा'** भी हो सकती है ।

संसार के संबंधों की इस विचित्रता को जानकर उन संबंधों में निर्लेप बनने की कोशिश करनी चाहिये । संसार के संबंधों में जितनी अधिक आसक्ति होगी, उतने ही अंश में काम राग और स्नेहराग का पोषण होगा, ये दोनों राग भयंकर कर्मबंध के हेतु है, अत: उनसे बचने की कोशिश करनी चाहिये ।

जणणी जायइ जाया, जाया माया पिया य पुत्तो य ।
अणवत्था संसारे, कम्म-वसा सव्व-जीवाणं ॥22॥

शब्दार्थ

जणणी=माता,	**य**=और,
जायइ=बनती है,	**अणवत्था**=अनवस्था से भरे,
जाया=पत्नी,	**संसारे**=संसार में,
माया=माता,	**कम्म-वसा**=कर्म की,
पिया=पिता, **पुत्तो**=पुत्र,	**सव्व-जीवाणं**=सभी जीव ।

अर्थ : इस संसार में कर्म की पराधीनता के कारण सभी जीवों की ऐसी अनवस्था है कि माता मरकर पत्नी बनती है, पत्नी मरकर माता बनती है और पिता मरकर पुत्र बनता है ।

विवेचन : हे आत्मन् ! इस संसार में सभी संसारी जीव कर्म के अधीन हैं । कहाँ और किस योनि में जन्म लेना, यह जीवात्मा के अधीन नहीं है । इस भव में माता, पिता, भाई-बहन, पुत्र-पुत्री, चाचा-चाची आदि के जो संबंध जुड़े हैं, अगले जन्म में उन संबंधों में परिवर्तन हो सकता है अर्थात् जो इस जन्म की माता है, वह अगले जन्म में पत्नी और जो इस जन्म में पत्नी है, वह अगले जन्म में माता बन सकती है ।

संबंधों की इस अनियमितता के कारण किसी भी संबंध में गाढ़ राग करने जैसा नहीं है ।

श्री भगवती सूत्र के 12 वें शतक के 7 वें उद्देश में श्री गौतमस्वामीजी ने महावीर प्रभु को पूछा–

``हे भगवंत ! क्या यह जीव पूर्व भवों में सभी जीवों के साथ माता-पिता-बंधु-बहिन-पत्नी-पुत्र-पुत्री के रूप में पैदा हुआ है ?''

भगवान ने कहा, ``हाँ गौतम ! अनेक प्रकार से अनेक बार उत्पन्न हुआ है ।''

``हे भगवंत ! क्या यह जीव अन्य जीवों के दुश्मन व मित्र के रूप में भी पैदा हुआ है ?'' ``हाँ गौतम ! अनेक बार ।''

``हे भगवंत ! क्या यह जीव अन्य जीवों के राजा, स्वामी, सेवक, दास, सार्थवाह आदि के रूप में भी उत्पन्न हुआ है ?''

भगवान ने कहा, ``हाँ गौतम ! अनेक बार ।''

न सा जाइ न सा जोणी, न तं ठाणं न तं कुलं ।
न जाया न मुआ जत्थ, सव्वे जीवा अणंतसो ।।23।।

शब्दार्थ

न=नहीं है,	**जाया**=जन्मा है,
सा=वो कोई,	**मुआ**=मरा है,
जाइ=जाति,	**जत्थ**=जहाँ पर,
जोणी=योनी,	**सव्वे**=सारे,
तं=वो कोई,	**जीवा**=जीव,
ठाणं=स्थान, **कुलं**=कुल,	**अणंतसो**=अनंतीवार ।

अर्थ : इस संसार में ऐसी कोई जाति नहीं, ऐसी कोई योनि नहीं, ऐसा कोई स्थान नहीं, ऐसा कोई कुल नहीं, जहाँ सभी जीव अनंत बार जन्मे और मरे न हों ।

विवेचन : इस चौदह राजलोक रूप विश्व में सभी आकाश प्रदेशों का स्पर्शकर अपनी आत्मा ने अनंतबार जन्म और मरण का अनुभव किया है। इस संसार में ऐसी कोई जाति नहीं है, जिस जाति में अपनी आत्मा ने अनंत बार जन्म नहीं लिया हो; एकेन्द्रिय से लेकर पंचेन्द्रिय तक की हर जाति में अपनी आत्मा ने जन्म धारण किया है । जीवों के उत्पत्ति स्थान को योनि कहते हैं । चौरासी लाख योनियों में ऐसी एक भी योनि नहीं है, जिसमें अपनी आत्मा ने अनंती बार जन्म धारण नहीं किया हो ।

'योगशास्त्र ग्रंथ में ठीक ही कहा है,

वालाग्रमपि तन्नास्ति यन्न स्पृष्टं शरीरिभिः ।'

इस चौदह राजलोक रुप संसार में बाल के अग्र भाग जितना भी स्थान ऐसा नहीं है, जिसका स्पर्शकर अपनी आत्मा ने जन्म-मरण नहीं किया हो ! भूतकाल में अपनी आत्मा ने अनंत जन्म किये हैं, अनंत बार मृत्यु को प्राप्त किया है। अतः इस भव परंपरा का अंत लाने में ही इस जीवन की सफलता और सार्थकता है ।

इस जन्म-मरण की परंपरा का अंत लाने के लिए रत्नत्रयी की आराधना साधना अनिवार्य है । यह भव उसी की साधना के लिए मिला है, ऐसा मानकर उसी के लिए प्रयत्नशील बनने में इस जीवन की सफलता-सार्थकता है । मोह में अंध बने हुए जीव दुर्लभ ऐसे मानव जन्म की अमूल्य क्षणों को भी प्रमाद के वशीभूत होकर ऐसे ही गंवा देते है । प्रमाद तो शत्रु हैं, उसका आश्रय लेना हितकारी नहीं है ।

तं किंपि नत्थि ठाणं, लोए वालग्ग-कोडि-मित्तं पि ।
जत्थ न जीवा बहुसो, सुह-दुक्ख-परंपरा पत्ता ।।24।।

शब्दार्थ

तं किं पि=वह कोई भी,	**जत्थ**=जहाँ पर, **न**=नहीं,
नत्थि=नहीं है,	**जीवा**=जीवों न,
ठाणं=स्थान, **लोए**=लोक में,	**बहुसो**=बहुत बार,
वालग्ग-कोडि-मित्तं=बाल के अग्र भाग जितना,	**सुह-दुक्ख-परंपरा**=सुख-दु:ख की परंपरा,
पि=भी,	**पत्ता**=प्राप्त की हो ।

अर्थ : इस संसार में बाल के अग्र भाग जितना भी ऐसा स्थान नहीं है, जहां इस जीव ने अनेक बार सुख-दु:ख की परंपरा प्राप्त न की हो ।

विवेचन : इस विराट् विश्व में परिभ्रमण कर रही अपनी आत्मा ने हर जगह सुख-दु:ख का अनुभव किया है । इस समूचे विश्व में बाल के अग्र भाग जितना भी स्थान ऐसा नहीं है, जहाँ अपनी आत्मा ने अनंत बार सुख-दु:ख का अनुभव नहीं किया हो ।

चौदह राजलोक रूप यह विश्व कितना लंबा चौड़ा है । जब हर आकाश प्रदेश का स्पर्श कर बहुत बार दु:खों का अनुभव किया है तो वह दु:ख कितना होगा ? इस संसार में ऐसा कोई दु:ख नहीं है, जिसका अनुभव अपनी आत्मा ने अनंत बार नहीं किया हो ।

ये सभी दु:ख अनिच्छा और पराधीनता से सहन किए हैं, इस कारण बहुत कुछ सहन करते हुए भी आत्मा का मोक्ष नहीं हो पाया है ।

अनिच्छा व पराधीनता से जो कुछ सहन किया जाता है, उसमें मात्र अकाम निर्जरा ही है । प्रसन्नतापूर्वक सहन करने में ही सकामनिर्जरा रही हुई है । इस जीवात्मा ने पराधीन अवस्था में अनिच्छा से दु:ख सहनकर सिर्फ अकाम निर्जरा ही की है ।

यही जीवन हमें ऐसा मिला है, जिसमें विवेकपूर्वक आराधना साधना कर सकाम निर्जरा कर सकते है । यह जीवन व्यर्थ गंवाने जैसा नहीं है । इस जीवन में हम वह साधना कर सकते हैं, जो देव आदि भवों में संभव नहीं है । अत: प्रमाद छोडकर आराधना के लिए प्रयत्नशील बनने में ही जीवन की सफलता है । ड्राइवर की एक छोटी सी भूल अनेकों के लिए मौत का कारण बन सकती है, इसी प्रकार प्रमाद के द्वारा हुई अपनी भूल अपनी आत्मा को अनंत संसारी बना सकती है ।

सव्वाओ रिद्धिओ, पत्ता सव्वे वि सयण-संबंधा ।
संसारे ता विरमसु, तत्तो जइ मुणसि अप्पाणं ।।25।।

शब्दार्थ

सव्वाओ=सभी प्रकार की,	**संसारे**=इस संसार में,
रिद्धिओ=ऋद्धियाँ,	**ता**=तो,
पत्ता=प्राप्त किये है,	**विरमसु**=विराम पा,
सव्वे वि=सभी प्रकार की,	**तत्तो**=अतः, **जइ**=यदि,
सयण=स्वजन के,	**मुणसि**=जानता है,
संबंधा=संबंध,	**अप्पाणं**=आत्मा को ।

अर्थ : संसार में सभी प्रकार की ऋद्धियाँ और स्वजन संबंध प्राप्त किये हैं, अत: यदि तू आत्मा को जानता हैं तो उनके प्रति रहे ममत्व से विराम पा जा ।

विवेचन : अनादि काल से इस संसार में परिभ्रमण करती हुई आत्मा ने सभी प्रकार की ऋद्धि, सिद्धि और समृद्धि प्राप्त की है । कोई चीज तुम्हारे लिए नई नहीं है ।

एक पुद्‌गल परावर्त काल में आत्मा, जगत् में रहे सभी पुद्‌गलों का भोग कर लेती है, अत: इस संसार की कोई ऋद्धि-समृद्धि तेरे लिए नई नहीं है ।

संसार में भटकते हुए तूने सभी संसारी जीवों के साथ माता-पिता, भाई-बहिन आदि के संबंध किये हैं । अत: उनके विषय में थोड़ा भी मोह करने जैसा नहीं है । एक भव बदलता है और संबंध भी बदल जाते हैं । इस भव में जो माता-पिता हैं वे ही अगले जन्म में भाई-बहिन या दुश्मन बन जाते है, अत: उन संबंधों में तू व्यर्थ ही ममता भाव क्यों धारण करता है ?

ठीक ही कहा है- ***स्त्रियाँ पराभव-तिरस्कार करनेवाली हैं । बंधुजन भी बंधन समान हैं । पांच इन्द्रियों के ये विषय तो विष की उपमावाले है । अहो ! जीव की यह कैसी मोहदशा है कि जो दुश्मन हैं, उन्हीं को वह मित्र समझ रहा है ।***

अत: हे आत्मन् ! यदि तू सुखी होना चाहती है तो इस संपत्ति और परिवारजनों की ममता को छोड़ दे ।

धन के प्रति रही हुई ममता तो आत्मा के लिए जटिल बंधन है । लोहे की बेड़ियों को तोड़ना आसान है परंतु ममता के बंधन को तोड़ना अत्यंत ही दुष्कर है । हर भव में स्वजन बदलते रहते हैं, परंतु जीवात्मा इस बात को भूल जाती है और इस जन्म में हुए संबंधों के प्रति ममता कर भयंकर कोटि के पाप कर्मों का उपार्जन करती है ।

एगो बंधइ कम्मं, एगो वह-बंध-मरण-वसणाइं ।
विसहइ भवम्मि भमडइ, एगुच्चिय कम्म-वेलविओ ।।26।।

शब्दार्थ

एगो=अकेला ही,
बंधइ=बंधता है,
कम्मं=कर्म को,
वह=वध,
बंध=बन्धन,
मरण=मरण,
वसणाइं=व्यसन आदि आपत्तियाँ,
विसहइ=सहन करता है,
भवम्मि=संसार में,
भमडइ=भटकता है,
एगुच्चिय=अकेला ही,
कम्म-वेलविओ=कर्म से ठगा हुआ ।

अर्थ : यह जीव अकेला ही कर्मबंध करता है । अकेला ही वध, बंधन और मरण के कष्ट सहन करता है । कर्म से ठगा हुआ जीव अकेला ही संसार में भटकता है ।

विवेचन : एकत्व भावना में यह स्पष्ट कहा गया है कि इस संसार में आत्मा अकेली आती है और यहां से अकेली जाती है ।

आत्मा अपने शुभ-अशुभ अध्यवसायों के द्वारा अकेली ही कर्म का बंध करती है और उन कर्मों का उदय आने पर आत्मा अकेली उन कर्मों की सजा को भुगतती है । इस संसार में जीवात्मा को जो भी वध, बंधन, मरण आदि के दु:ख आते हैं, वे सब स्वयं के ही उपार्जित कर्मों के फल हैं ।

यह कर्म ही जीवात्मा को कठपुतली की तरह नचाता है ।

इस जन्म में भले ही विशाल परिवार की प्राप्ति हुई हो, परंतु अपने किए हुए कर्मों की सजा तो जीवात्मा को स्वयं ही भुगतनी पड़ती हैं । किए हुए अर्थार्जन में सभी भागीदार होते हैं, परंतु उस अर्थार्जन हेतु अन्याय-अनीति मिलावट आदि का जो भी पाप किया हो, उस पाप की सजा तो जीवात्मा को अकेले ही भुगतनी पड़ती है ।

ठीक ही कहा है–

'एकला यहां पे तूं आया, एकला ही जाएगा ।
क्यों बूरे तूं कर्म करता, नरक में दु:ख पाएगा ।'

एकत्व भावना के द्वारा ही नमि राजर्षि ने केवलज्ञान प्राप्त किया था ।

एकत्व भावना हमें निर्भय बनाती है । जब आत्मा अकेली ही आई है और अकेली ही जानेवाली है, तो फिर दूसरों की अपेक्षा रखने की क्या आवश्यकता है ?

अन्नो न कुणइ अहियं, हियं पि अप्पा करेइ न हु अन्नो ।
अप्पकयं सुहदुक्खं, भुंजसि ता कीस दीणमुहो ? ||27||

शब्दार्थ

अन्नो=अन्य कोई, **न**=नहीं,	**अन्नो**=अन्य,
कुणइ=करता है,	**अप्पकयं**=अपने ही किए हुए,
अहियं=अहित,	**सुहदुक्खं**=सुध-दु:ख को,
हियं=हित, **पि**=भी,	**भुंजसि**=तू भोगता है,
अप्पा=आत्मा स्वय,	**ता कीस**=तो किसलिए,
करेइ=करती है,	**दीणमुहो**=दीन मुखवाला होता है ।

अर्थ : अन्य कोई जीव अपना अहित नहीं करता है और अपना हित भी आत्मा स्वयं ही करती है, दूसरा कोई नहीं करता है । अपने किए हुए कर्मों को-सुख दु:ख को तू भोगता है, तो फिर दीन मुखवाला क्यों बनता है ?

विवेचन : संसार में जब भी कोई दु:ख आता है, तब संसारी जीव यही मानता है कि अमुक व्यक्ति ने मुझे दु:ख दिया है । परंतु सच तो यह है कि जगत् के जीव जो हमें सुख-दु:ख देते हैं, उस सुख-दु:ख में तो वे निमित्त मात्र हैं, वास्तव में वह सुख-दु:ख तो हमें अपने ही कर्म के उदय के कारण आया है । परंतु इस सत्य का स्वीकार नहीं करने के कारण जीव इस संसार में और ज्यादा दु:खी होता है । वह बाह्य निमित्तों को प्रधान कर दु:ख देनेवालों के प्रति रोषायमान होकर नए-नए कर्म बाँधता रहता है ।

हे आत्मन् ! याद रख, इस संसार में तेरा अहित करनेवाला अन्य कोई नहीं है । जैसे तेरा अहित करनेवाला कोई नहीं है तो उसी प्रकार तेरा हित करनेवाला भी कोई नहीं है । अपना हित और अपना अहित करनेवाला तू स्वयं ही है ।

तू जब शुभ अध्यवसायों में लीन रहता है, तब शुभ कर्मों का बंध करता है और जब तू अशुभ कर्मों, अध्यवसायों में लीन रहता है, तब तू अशुभ कर्मों को उपार्जित करता है और वे ही अशुभ कर्म तुझे दु:ख देते हैं । इससे स्पष्ट है कि तेरे सुख-दु:ख का कर्ता तू स्वयं ही है ।

जब तेरे सुख-दु:ख का सर्जन तेरे ही हाथों में है तो फिर तू दीन मुखवाला क्यों बनता है ? इस प्रकार की दीनता करके तू दु:खी क्यों होता है ?

उत्तराध्ययन सूत्र में ठीक ही कहा है-**``आत्मा ही वैतरणी नदी है और आत्मा ही कूटशाल्मलि वृक्ष है । आत्मा ही कामधेनु है और आत्मा ही नंदनवन है ।''** आत्मा ही अपने सुख-दु:ख की कर्ता है अर्थात् सुख को पैदा करनेवाली भी अपनी आत्मा है और अपने दु:ख का नाश करनेवाली भी अपनी आत्मा है ।

बहु-आरंभ-विढत्तं, वित्तं विलसंति जीव सयण-गणा ।
तज्जणिय-पाव-कम्मं, अणुहवसि पुणो तुमं चेव ।।28।।

शब्दार्थ

बहु=बहुत,
आरंभ=आरंभ-समारंभ से,
विढत्तं=उपार्जित,
वित्तं=धन से,
विलसंति=विलास करते है,
जीव=हे जीव !
सयण-गणा =स्वजन गण,
तज्जणिय=उससे उपार्जित,
पाव-कम्मं=पाप कर्म,
अणुहवसि=अनुभव करोगे !
पुणो=जो कि,
तुमं=तुझे,
चेव=ही ।

अर्थ : हे जीव ! बहुत से आरंभ समारंभ से उपार्जित तेरे धन का स्वजन लोग भोग करते हैं परंतु उस धन के उपार्जन में बंधे हुए पापकर्म तुझे ही भोगने पड़ेंगे ।

विवेचन : धन के उपार्जन में पागल बना हुआ तू कितने आरंभ-समारंभ करता है । धन के लिए तू खेती करता है, कारखाने खोलता है, जमीन खोदता है, वस्त्र आदि को रंगने-धोने का काम करता है और भी पता नहीं, अनेक प्रकार के आरंभ-समारंभ करता है ।

अर्थार्जन तू करता है, परंतु तेरे उस धन को भोगनेवाला तू ही नहीं है । उस धन के भोग में तो अनेक-अनेक व्यक्ति भागीदार बनते हैं । माता-पिता, भाई-बहिन, पुत्र-पुत्री, दादा-दादी आदि सभी उस धन का लाभ उठाते हैं ।

परंतु याद रख, तेरे द्वारा उपार्जित धन में सब भागीदार होंगे, परंतु उस धन के उपार्जन में हुए पाप में कोई भागीदार नहीं होगा । उस पाप की सजा तो तुझे अकेले ही सहन करनी पड़ेगी ।

◆ अजैन रामायण के रचयिता वाल्मीकि ऋषि पहले लुटेरे थे । एक बार किसी जंगल में वे किसी संत को लूटने लगे ।

संत ने कहा, ``मेरे पास जो कुछ है, वह सब कुछ देने के लिए तैयार हूँ, परंतु तुम मेरी एक बात सुन लो ।''

लुटेरे ने कहा, ``क्या कहना चाहते हो ?''

``तुम अपने घर जाकर अपने परिवार के सदस्यों से पूछ लो कि लूटकर लाये मेरे धन में तुम सब भागीदार हो तो उस धन को लूटने के लिए जो मैं पाप करता हूँ, उस सब में भी तुम भागीदार हो न ?''

वह अपने घर गया । अपने परिवारजन को इकट्ठा कर जब उसने यह पूछा तो सब बोल उठे-``हम तो सिर्फ कमाई में भागीदार में हैं, तुम्हारे पाप में नहीं ।''

उसने जब आकर संत को यह सब बात कही तो संत ने कहा, ``परिवारजन के पीछे तुम अपना भविष्य क्यों बिगाड़ते हो ? इन पापों की कितनी भयंकर सजा तुम्हें भुगतनी पड़ेगी, यह तुम्हें पता है ?''

पाप की भयंकर सजा के भय से वह काँप उठा और उसने सदा के लिए लूट का धंधा छोड़ दिया । वह लूटेरा मिट गया और एक पवित्र संत बन गया ।

बस, इसी प्रसंग को यादकर हमें भी परिवार के लिए अर्थार्जन में हो रहे निरर्थक पापों से बचने के लिए प्रयत्न करना चाहिए ।

सद्गुरु

शरीर की चिकित्सा करानी है तो
वहाँ डॉक्टर की सलाह जरुरी है,
उसी प्रकार आत्मा की चिकित्सा करानी है
तो उसके लिए सद्गुरु की ही
सलाह जरुरी है ।
उनके मार्गदर्शन एवं सान्निध्य
में ही आत्मा, कर्म रोगों से
मुक्त बनने का प्रयत्न कर सकती है ।
सद्गुरु की उपेक्षा में
अपनी आत्मा की ही उपेक्षा है ।

अह दुक्खिआइं तह भुक्खिआइं, जह चिंतिआइं डिंभाइं ।
तह थोवं पि न अप्पा, विचिंतिओ जीव ! किं भणिमो ? ।।29।।

शब्दार्थ

अह=यह,	**डिंभाइं**=बच्चे,
दुक्खिआइं=दु:खी है,	**थोवं पि**=थोडी भी, **न**=नहीं की,
तह=वह,	**अप्पा**=आत्मा के विषय में
भुक्खिआइं=भूखे है,	**विचिंतिओ**=चिंता,
जह=जो इस प्रकार ।	**जीव !**=हे जीव !
चिंतिआइं=चिंता करता है,	**किं भणिमो**=क्या कहना ?

अर्थ : हे आत्मन् ! तुमने ''मेरे बच्चे दु:खी हैं, भूखे हैं ?'' इस प्रकार की चिंता की, परंतु कभी भी अपने हित की चिंता नहीं की । अत: अब तुझे क्या कहें ?

विवेचन : हे आत्मन् ! देवों को भी दुर्लभ ऐसा मानव भव तुझे आत्म-चिंता के लिए मिला है । आत्मा के हित का लंबा विचार मात्र इसी एक भव में हो सकता है । परंतु इस दुर्लभ मानव भव को प्राप्त करके भी तू सिर्फ अपने पुत्र-परिवार की ही चिंता करता है ।

पुत्रों को भरपेट भोजन न मिला हो तो उनकी तू खूब चिंता करता है । परंतु आश्चर्य है कि तू अपनी थोड़ी भी चिंता नहीं करता है । इस जगत् में पराई चिंता करनेवाले बहुत लोग हैं, परंतु आत्म-हित की चिंता करनेवाले लोग नहींवत् हैं । सचमायने में तो आत्मा के हित की चिंता करनी चाहिए । आत्महित की चिंता में आत्मा का एकांत हित रहा हुआ है, जबकि अन्य लोगों की या परिवार की चिंता करने में सिर्फ आर्तध्यान ही रहा हुआ है ।

आत्मा का संपूर्ण हित हो सके, यह चिंता सिर्फ मानव भव में ही संभव है, क्योंकि उस हितचिंता के बाद सिर्फ इसी भव में आत्म-हितकर प्रवृत्ति की जा सकती है । अन्य भवों में यह संभव नहीं है । नरक के जीव सतत दु:ख में सेके जा रहे हैं, अत: वे दु:ख से इतने आकुल-व्याकुल होते हैं कि उन्हें आत्महित का विचार भी नहीं आता है ।

पराधीनता, अविवेक और भूख आदि की पीड़ा के कारण तिर्यंचगति में भी आत्महित की चिंता को अवकाश नहीं है ।

हे पुण्यात्मन् ! आत्मा का हित हो, ऐसा तुझे यह अमूल्य अवसर हाथ लगा है, इस अवसर को तू व्यर्थ मत जाने दे । यह अवसर हाथ से चला गया तो फिर जल्दी अवसर हाथ लगनेवाला नहीं है ।

खणभंगुरं सरीरं, जीवो अन्नो य सासय-सरूवो ।
कम्मवसा संबंधो, निब्बंधो इत्थ को तुज्झ ? ।।30।।

शब्दार्थ

खणभंगुरं=क्षणभंगुर,	**सासय-सरूवो**=शाश्वत स्वरुपी है,
सरीरं=यह शरीर,	**कम्मवसा**=कर्म के वश,
जीवो=आत्मा,	**संबंधो**=संबंध है ।
अन्नो=भिन्न,	**निब्बंधो**=राग,
य=और,	**इत्थ को तुज्झ ?**=यहाँ तूझे क्यों हैं ?

अर्थ : यह शरीर क्षणभंगुर है और उससे भिन्न आत्मा शाश्वत स्वरूपी है । कर्म के वश इसके साथ संबंध हुआ है, अतः इस शरीर के विषय में तुझे मूर्च्छा क्यों हैं ?

विवेचन : जिस शरीर में तेरा वास हुआ है, वह शरीर तो क्षणभंगुर है अर्थात् थोड़े ही समय में नष्ट हो जाने के स्वभाववाला है । तू तो इस शरीर से सर्वथा भिन्न अजर-अमर-अविनाशी शाश्वत स्वरूपवाला है । तेरा स्वभाव अलग है और इस शरीर का स्वभाव अलग है ।

कर्म के उदय के कारण तेरा इस शरीर के साथ संबंध जुड़ा है तो फिर ऐसे नाशवंत शरीर में तू इतनी ममता क्यों रखता है ? अनेक प्रकार की औषधियाँ और रसायनों से संस्कारित करने पर भी यह शरीर तो कच्चे घड़े की तरह अत्यंत नि:सार ही है । यह शरीर स्वतः ही नष्ट हो जाने के स्वाभाववाला है । पेट-छाती-आँख आदि में पैदा होनेवाले रोगों के द्वारा यह शरीर स्वतः नष्ट हो जाता है ।

यह शरीर हमेशा एक ही स्थिति में रहनेवाला नहीं है । चय-अपचय के धर्मवाला है अर्थात् इष्ट आहार के उपभोग से यह शरीर पुष्ट होता है और इष्ट आहार की प्राप्ति नहीं होने पर यह शरीर कमजोर हो जाता है, धीरे धीरे नष्ट हो जाता है ।

तेरे स्वरूप से सर्वथा भिन्न और हाड़, मांस, चर्बी, खून, स्नायु आदि अशुचिमय पदार्थों से भरे हुए इस शरीर में इतनी मूर्च्छा और आसक्ति क्यों ? तूं तो इस देह से सर्वथा भिन्न अजर अमर अविनाशी आत्मा है । तेरा अस्तित्व कभी नष्ट होनेवाला नहीं है । तू इस देह को भूल जा और देह से भिन्न अपना मूल स्वरुप को प्राप्त करने के लिए प्रयत्नशील बन, इसी में तेरा हित है ।

कह आयं कह चलियं, तुमं पि कह आगओ कहं गमिही ।
अन्नुन्नंपि न याणह, जीव ! कुडुंबं कओ तुज्झ ? ||31||

शब्दार्थ

कह=कहाँ से,	**अन्नुन्नंपि**=दोनो परस्पर,
आयं=आया है,	**न याणह**=नहीं जानते है,
चलियं=चला जाएगा,	**जीव !**=हे जीव !
तुमं पि=तुम भी,	**कुडुंबं**=कुटुंब,
आगओ=आया है,	**कओ**=कहा से,
गमिही=जाएगा,	**तुज्झ ?**=तुम्हारा ।

अर्थ : हे आत्मा ! यह कुटुंब कहाँ से आया और कहाँ जाएगा ? तू भी कहाँ से आया और कहाँ जाएगा ? तुम दोनों परस्पर यह जानते नहीं हो तो यह कुटुंब तुम्हारा कहाँ से ?

विवेचन : हे आत्मन् ! संसार में माता-पिता, भाई-बहिन आदि संबंधों से बना हुआ कुटुंब कहाँ से आया है और मरकर कहाँ जाएगा ? यह तुझे पता नहीं है । तू भी कहाँ से आया है, और मरकर कहाँ जाएगा ? यह भी तुझे पता नहीं है ।

आचारांग सूत्र के **'शस्त्र-परिज्ञा'** नाम के अध्ययन में ठीक ही कहा है- 'कई जीवों को यह बोध नहीं होता है कि वे गत भव में से मरकर कहाँ से आए हैं ? गत जन्म में मैं कहाँ था-किस भव में था और यहाँ से मरकर मैं कौनसी गति में चला जाऊंगा ? इस बात का कोई भान नहीं होता है ।

इस जीवन में जिस परिवार के साथ हमारा संबंध हुआ है, वह अस्थायी है । एक पंखी मेले के भाँति यह संबंध है । फिर भी आश्चर्य है कि हमने उसे स्थायी मान लिया है । परिवार में से मृत्यु प्राप्तकर कौन कहाँ जाएगा-किसी को पता नहीं है ।

इस जीवन में जिन-जिन जीवों के साथ जो-जो संबंध जुड़े हैं, वे संबंध अगले जन्म में स्थायी रहेंगे, ऐसी कोई गारंटी नहीं है तो फिर इस कुटुंब के प्रति तू इतनी ममता और आसक्ति को क्यों धारण करता है ?

रेल्वे प्लेटफार्म पर अनेक यात्री इकट्ठे होते है, परंतु जैसे ही ट्रेन आती हैं, वे सब अलग अलग डिब्बे में Set हो जाते है । प्लेटफार्म का वह मेला अस्थायी है । उस अस्थायी मेले को स्थायी मान लेना, यह सबसे बडी मुर्खता है । जो अपना नहीं है, उसे अपना मान लेना, सबसे बडी अज्ञानता है । उस अज्ञानता को दूर करने के लिए पुरुषार्थ करना बहुत जरुरी है ।

खणभंगुरे सरीरे, मणुअभवे अब्भपडल-सारिच्छे ।
सारं इत्तिय-मेत्तं, जं किरइ सोहणो धम्मो ॥32॥

शब्दार्थ

खणभंगुरे=क्षणभंगुर,	**सारिच्छे**=के समान, **सारं**=सार,
सरीरे=शरीर में,	**इत्तिय-मेत्तं**=इतना ही मात्र,
मणुअभवे=मानव भव,	**जं**=जो, **किरइ**=किया गया,
अब्भपडल=बादलो का पटल,	**सोहणो**=शोभन, **धम्मो**=धर्म ।

अर्थ : बादल के समूह समान इस मानवभव में और क्षणभंगुर इस देह के विषय में जो अच्छा धर्म हो, इतना ही मात्र सार है ।

विवेचन : वर्षा ऋतु आती है और आकाश में चारों ओर बादल छा जाते हैं, परंतु अचानक ही कहीं से कोई पवन का झोंका आता है और वे बादल क्षणभर में कहीं बिखर जाते हैं। बस, मानव देह भी आकाश में छाए हुए बादलों की भाँति क्षणभंगुर है । इस शरीर का क्षणभर के लिए भी भरोसा करने जैसा नहीं है ।

इस विनाशी मानव शरीर का एक मात्र सार यदि कोई हो तो वह है-निर्मल धर्म की आराधना । विशुद्ध धर्म की आराधना एक मात्र मानव शरीर से ही संभव है। यद्यपि यह मानव देह औदारिक वर्गणाओं के पुद्गलों से बना हुआ होने के कारण अल्प समय में ही नष्ट हो जाने के स्वभाववाला है ।

देवों का शरीर वैक्रिय वर्गणा के पुद्गलों से बना होता है । उसमें किसी भी प्रकार की अशुद्धि या अशुचि नहीं होती है । लाखों-करोड़ों-अरबों-खरबों वर्ष तक वह एक जैसा ही रह सकता है । उन देहों में अशुचि का नामोनिशान नहीं है, परंतु उस देह से सर्वविरति धर्म की आराधना संभव नहीं है, अतः देव शरीर से मानव शरीर ही श्रेष्ठ है ।

रेगिस्तान के रेतीले प्रदेश को पार करना हो तो वहाँ मारुति कार काम नहीं लगती है, वहाँ तो ऊँट ही काम लगता है। उसी प्रकार मोक्ष में जाना हो तो वहाँ देव देह काम नहीं लगता है, वहाँ तो मानव देह ही काम लगता है ।

अपनी आत्मा ने भूतकाल में मलिन धर्म तो बहुत किया है और उसके फल स्वरुप सांसारिक सुख भी बहुत बार प्राप्त किया है, परंतु उन सुखों को भोगकर आत्मा ने अपना संसार ही बढाया है ।

वीतराग कथित धर्म की आराधना करते समय जब इह लौकिक या पारलौकिक फल की आकांक्षा जुड जाती है, तब अपना धर्म मलिन हो जाता है । वह धर्म संसार के सुख देगा, परंतु मोक्ष नहीं ! मोक्ष तो विशुद्ध धर्म की आराधना से ही प्राप्त होगा ।

जम्मदुक्खं जरादुक्खं, रोगा य मरणाणि य ।
अहो ! दुक्खो हु संसारो, जत्थ कीसंति जंतुणो ।।33।।

शब्दार्थ

जम्मदुक्खं=जन्म दु:खदायी है,	**दुक्खो**=दु:खदायी है,
जरादुक्खं=वृद्धावस्था दु:खदायी है,	**हु संसारो**=यह संसार,
रोगा=रोग,	**जत्थ**=जहाँ,
मरणाणि=मरण, **य**=और,	**कीसंति**=क्लेश का पाता है,
अहो !=आश्चर्य है,	**जंतुणो**=प्राणी ।

अर्थ : जन्म दु:खदायी है, वृद्धावस्था दु:खदायी है, संसार में रोग और मृत्यु हैं । अहो ! यह संसार ही दु:ख रूप है जहाँ प्राणी पीड़ा का अनुभव करते हैं ।

विवेचन : अहो ! यह सारा संसार अलग-अलग प्रकार के दु:खों से भरा हुआ है । यहाँ जीवों को जन्म का दु:ख है, वृद्धावस्था का दु:ख है, शारीरिक रोगों का दु:ख है और मृत्यु का दु:ख है । संसारी जीव नाना प्रकार की विडंबनाओं को भुगत रहे हैं परंतु कहीं भी उन दु:खों का अंत नहीं आता है ।

यह संसार अनंत दु:खों से भरा हुआ है । यहाँ दु:खों का कोई पार नहीं है । ठीक ही कहा है, **''जहाँ सुख का पार नहीं और दु:ख का नामोनिशान नहीं, उसका नाम मोक्ष है और जहाँ दु:ख का पार नहीं और सख का नामोनिशान नहीं, उसका नाम संसार है ।''**

संसार में दु:ख हो, यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है ।

जब तक आत्मा का मोक्ष न हो, तब तक आत्मा इस संसार में नाना प्रकार के दु:खों का भाजन बनती रहती है । एक दु:ख समाप्त होता है और दूसरा दु:ख उसके जीवन में प्रारंभ हो जाता है ।

लाखों सुइयों को आग में तपाकर लालबुंद की जाए और वे सब सुइयां एक साथ में शरीर में भोंकी जाय, उससे जो पीडा होती हैं, उससे भी अनेक गुणी पीडा गर्भावास में होती है और उससे भी आठ गुणी पीडा जन्म समय होती है । ऐसी पीडाएं अपनी आत्मा ने अनंतबार सहन की है ।

शरीर तो रोगों का घर ही है ! एक रोग शांत होता है और दूसरा रोग पैदा हो जाता है । अपने शरीर में जितने 3½ करोड रोंगटे हैं, उन सब पर पोने दो-पोने दो रोग सत्ता में रहे हुए है । संसार में एक के बाद एक रोग होते ही रहते हैं, अत: दु:ख व रोग-मुक्त बनने के लिए मोक्ष मार्ग की आराधना साधना कर लेनी चाहिये ।

जाव न इंदिय-हाणी, जाव न जर-रक्खसी परिप्फुरइ ।
जाव न रोगविआरा, जाव न मच्चू समुल्लिअइ ॥34॥

शब्दार्थ

जाव=जब तक,	**परिप्फुरइ**=प्रकट हुई,
न=नहीं,	**रोगविआरा**=रोग के विकार,
इंदिय-हाणी=इन्द्रियों की हानी,	**मच्चू**=मृत्यु,
जर-रक्खसी=वृद्धावस्था रुपी राक्षसी,	**समुल्लिअइ**=समुपस्थित हुई है ।

अर्थ : जब तक इन्द्रियों की हानि नहीं हुई, जब तक वृद्धावस्था रूपी राक्षसी प्रकट नहीं हुई और जब तक रोग के विकार पैदा नहीं हुए और जब तक मृत्यु नहीं आई है, तब तक हे आत्मा ! तू धर्म का सेवन कर ले ।

विवेचन : सद्धर्म की आराधना करनी हो तो उसके लिए स्वस्थ इन्द्रियों की भी अपेक्षा रहती है । शारीरिक युवावस्था की भी अपेक्षा रहती है ।

धर्म की आराधना करनी हो तो इन्द्रियों की भी अपेक्षा रहती है । यदि इन्द्रियाँ क्षीण हो गई हों तो धर्म की आराधना संभव नहीं है । कमजोर इन्द्रियों से धर्म की आराधना संभव नहीं है ।

यदि आँखे ही कमजोर हो तो प्रभु के दर्शन कैसे कर पाओगे ?

यदि कान ही कमजोर हैं तो जिनवाणी का श्रवण कैसे कर पाओगे ?

यदि हाथ ही कमजोर हैं तो सुपात्रदान कैसे दे पाओगे ? यदि पांव ही कमजोर है तो शत्रुंजय आदि तीर्थों की पदयात्रा कैसे कर पाओगे ?

अत: जब तक इन्द्रियों की हानि नहीं हुई हो, तब तक धर्म की आराधना कर लेनी चाहिए । वृद्धावस्था के साथ काया कमजोर हो जाती है । उस कमजोर काया से धर्म की आराधना संभव नहीं है ।

स्वस्थ दिखनेवाली यह काया कब रोगों से ग्रस्त बन जाएगी, कुछ भी कह नहीं सकते है । आज हट्ठा-कट्ठा, दिखने वाला व्यक्ति कल बोंबे होस्पीटल के I.C.U. में भी Admit हो सकता है । जब तक आत्मा कर्म के रोग से सर्वथा मुक्त नहीं बनती है, तब तक यह काया भिन्न भिन्न रोगों से ग्रस्त होने ही वाली है ।

कौनसा रोग तुम्हारे लिए मौत का कारण बन जाएगा, कुछ भी कह नहीं सकते हैं । अत: जब तक स्वस्थता हैं, धर्म आराधना कर लो । काया रोगग्रस्त होने के बाद धर्म आराधना बिल्कुल संभव नहीं है । स्वस्थ शरीर में भी धर्म आराधना कठिन है तो अस्वस्थ शरीर में तो वह कैसे हो सकेगी ?

जह गेहम्मि पलित्ते, कूवं खणिउं न सक्कए कोइ ।
तह संपत्ते मरणे, धम्मो कह कीरए जीव ! ।।35।।

शब्दार्थ

जह=जैसे,	**तह**=वैसे,
गेहम्मि=घर में,	**संपत्ते**=संप्राप्त होने पर,
पलित्ते=आग लगने पर,	**मरणे**=मरण के,
कूवं=कुआँ,	**धम्मो**=धर्म,
खणिउं=खोदने के लिए,	**कह**=कैसे,
न=नहीं,	**कीरए**=कर सकेगा,
सक्कए=समर्थ होता है,	**जीव !**=हे जीव !
कोइ=कोई,	

अर्थ : हे जीव ! घर में आग लगी हो तब कोई कुआँ खोदने के लिए समर्थ नहीं होता है, उसी प्रकार मृत्यु के नजदीक आने पर तू धर्म कैसे कर सकेगा ?

विवेचन : घर में चारों ओर आग लगी हो, उस समय उस आग को बुझाने के लिए कुआँ खोदना मुर्खता ही है, क्योंकि कुआँ खोदने में भी आखिर समय लगता है। कुआँ खोदते-खोदते तो आग की लपटें सारे घर को जलाकर भस्मीभूत कर देगी ।

बस, इसी प्रकार जीवन के अंतिम समय में धर्म आराधना की बातें करना, केवल मुर्खता है। मौत जब द्वार पर आकर खड़ी हो, उस समय धर्म की आराधना करना, कैसे संभव होगा। अत: समझदारी इसी में है कि प्रमाद का त्याग कर आज से, अभी से ही धर्म की आराधना कर लो ।

यह जीवन क्षण भंगुर है । मौत कभी भी आ सकती है । मौत उपस्थित होने पर धर्म की आशा रखना मुर्खता है । ऐसी स्थिति में धर्म आराधना संभव नहीं है । अत: कल के भरोसे रहकर अपनी जिंदगी को व्यर्थ गंवाना नहीं चाहिये । अवसर जो हाथ लगा है, उसे सफल और सार्थक बनाने में ही जीवन की सफलता है ।

धर्म करने की जब भी बात आती है, तब व्यक्ति `कल' के भरोसे पर छोडता है। धर्म में प्रमाद करता है और संसार के कार्यों की बात आती है तो बडे उत्साह से करता है, परंतु जरा सोचे, `समय हाथ से निकल जाने के बाद जब मौत द्वार पर दस्तक देगी, तब धर्म आराधना कैसे हो सकेगी ? `धर्म कल कर दूंगा' यह तो धर्म से बचने के लिए सिर्फ बहाना है। धर्म कीमती लगा हो तो उसके आचरण में प्रमाद किस बात का ?

रूवम-सासय-मेयं, विज्जुलया-चंचलं जए जीयं ।
संझाणुराग-सरिसं, खण-रमणीयं च तारुन्नं ।।36।।

शब्दार्थ

रूव=रुप,	**संझाणुराग**=संध्या के रंग,
असासयं=अशाश्वत,	**सरिसं**=समान,
मेयं=यह,	**खण**=क्षण मात्र,
विज्जुलया=विद्युत,	**रमणीयं**=मनोहर,
चंचलं=चंचल,	**च**=और,
जए=जगत् में,	**तारुन्नं**=तरुणपना, यौवन ।
जीयं=जीवन,	

अर्थ : यह रूप अशाश्वत है । विद्युत् के समान चंचल अपना जीवन है । संध्या के रंग के समान क्षण मात्र रमणीय यह यौवन है ।

विवेचन : वर्षाऋतु की मौसम में आकाश में बिजली चमकती है, परंतु उस बिजली का अस्तित्व कब तक ? क्षणभर में ही वह बिजली आँखों से ओझल हो जाती है । वह अदृश्य हो जाती है ।

बस, मानव जीवन भी इस बिजली की भाँति अत्यंत ही चंचल अर्थात् क्षणभर में ही नष्ट हो जाने के स्वभाव वाला है । मानव का सौंदर्य भी अशाश्वत है, आज जो रूप है, वह कल रहनेवाला नहीं है ।

संध्या समय में आकाश में इन्द्रधनुष बनता है, परंतु वह इन्द्र धनुष थोड़े समय ही रहता है । बस, इसी प्रकार मानव जीवन में जो यौवनकाल है, वह थोड़े समय के लिए ही रहनेवाला है ।

यौवन जब चंचल है तो उसके चले जाने के पूर्व ही धर्म आराधना कर लेनी चाहिए । उसमें थोडा भी विलंब करने जैसा नहीं है । धर्म आराधना में थोडा भी प्रमाद भयंकर नुकसान का कारण बन सकता है ।

देवलोक के लाखों वर्षों में जो पुण्य-उपार्जन और कर्म निर्जरा शक्य नहीं है, वह पुण्य-उपार्जन और कर्म निर्जरा मनुष्य एक अन्तर्मुहूर्त में कर सकता है । आवश्यकता है मानव जीवन की अमूल्य क्षणों को सफल व सार्थक बनाने की ।

देह संबंधी रुप अशाश्वत है, यौवन अशाश्वत है और आयुष्य अशाश्वत हैं, जब कि आत्मा अरुपी हैं, उसका अस्तित्व शाश्वत है । अतः अशाश्वत को छोड शाश्वत की प्राप्ति के लिए प्रयत्न करना चाहिये ।

गय-कन्न-चंचलाओ, लच्छीओ तिअस-चाव-सारिच्छं ।
विसयसुहं जीवाणं, बुज्झसु रे जीव ! मा मुज्झ ।।37।।

शब्दार्थ

गय-कन्न=हाथी के कान समान,	**विसयसुहं**=वैषयिक सुख,
चंचलाओ=चंचल है,	**जीवाणं**=जीवन,
लच्छीओ=लक्ष्मी,	**बुज्झसु**=बोध पा,
तिअसचाव=इन्द्रधनुष,	**रे जीव !**=हे जीव,
सारिच्छं=समान है,	**मा मुज्झ**=मोहित मत हो ।

अर्थ : हाथी के कान की तरह यह लक्ष्मी चंचल है । जीवों का विषय सुख इंद्रधनुष के समान चपल है । हे जीव ! तू बोध पा और उसमें मोहित न बन ।

विवेचन : अर्थ और काम मानव को मोहित करनेवाले हैं । कई पुरुष काम भोगों में अंधे हो जाते हैं तो कई लोग धन में अंधे हो जाते हैं ।

कामांधता और लोभांधता दोनों भयंकर हैं । इन दोनों में अंधे बने व्यक्ति के विवेक चक्षु पर आवरण आ जाता है । वह व्यक्ति अपने भावी हिताहित को न तो जान सकता है और न ही समझ सकता है ।

ग्रंथकार महर्षि धन में अंध बने लोभांध व्यक्तियों को सावधान करते हुए कहते हैं कि जिस धन के पीछे तू पागल है, जिस धन को पाने के लिए तू तीव्र लालायित बना है, परंतु वह धन तो हाथी के कान की तरह अत्यंत ही चंचल है ।

धन जब चंचल ही है, तो उस पर ममत्व भाव धारणकर भयंकर पाप बंध करने की दुष्प्रवृत्ति करने की क्या आवश्यकता है ?

उस धन का सात क्षेत्र (जिन प्रतिमा, जिन मंदिर, जिनागम, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका) में सदुपयोग किया जाय तो वही संपत्ति, आत्मा की शाश्वत लक्ष्मी की प्राप्ति में कारण भूत बन सकती है ।

पांच इंद्रियों के विषय भोग भी आत्मा को पतन के गर्त में डूबानेवाले हैं, अत: उनका त्यागकर आत्म साधना के मार्ग में पुरुषार्थ करने में ही अपना सच्चा हित रहा हुआ है ।

लक्ष्मी और विषय सुख दोनों चंचल है, अस्थिर है, अत: उनमें मुग्ध होने की आवश्यकता नहीं है । आज तक उसमें लुब्ध होकर हमने बहुत कुछ गंवाया है । अब सावधान हो जाने की आवश्यकता है ।

जह संझाए सउणाण, संगमो जह पहे अ पहियाणं ।
सयणाणं संजोगो, तहेव खण-भंगुरो जीव ! ।।38।।

शब्दार्थ

जह=जैसे,	**सयणाणं**=स्वजनों का,
संझाए=संध्या के समय,	**संजोगो**=संयोग,
सउणाण=पक्षियों का,	**तहेव**=वैसे ही,
संगमो=समागम,	**खण-भंगुरो**=क्षणभंगुर है,
पहे=पथ में,	**जीव !**=हे जीव !
पहियाणं=पथिकों का,	

अर्थ : हे जीव ! संध्या के समय में पक्षियों का समागम और मार्ग में पथिकों का समागम क्षणिक है; उसी तरह स्वजनों का संयोग भी क्षणभंगुर है ।

विवेचन : इस संसार में स्वजनों का जो संगम है, वह भी क्षणभंगुर है । संध्या के समय में अनेक पक्षी आकर वृक्ष पर बैठते हैं, परंतु प्रात:काल होते ही वे सभी पक्षी अलग अलग दिशाओं में उड जाते हैं । उन पक्षियों का वह समागम अल्पकाल के लिए ही होता है । दूसरे दिन उन पक्षियों का पुन: मिलन होगा, ऐसी गारंटी नहीं है ।

रेलवे प्लेटफार्म पर सैकडों यात्रिक इकट्ठे होते हैं, परंतु ज्यों ज्यों ट्रेनें आती हैं, त्यों-त्यों यात्रिक विदाई लेते रहते हैं, वापस उन सभी यात्रिकों का एक ही स्टेशन पर मिलन संभव नहीं है ।

बस, इसी प्रकार कर्म के संयोग से अन्य-अन्य गति में से आकर यहाँ अपना एक परिवार बना है, परंतु मृत्यु प्राप्तकर परिवार के सभी सदस्य अलग-अलग दिशाओं में अलग-अलग गतियों में चले जाएंगे, वापस उन सबका एक जगह मिलन होगा, ऐसी कोई गारंटी नहीं है ।

एक पंखीमेले की भांति इन स्वजनों में क्या राग करना ?

'यह मेरा बेटा ! यह मेरी पत्नी ! यह मेरा भाई !' यह सब अज्ञानता का ही तांडव नृत्य है ।

कौटुंबिक संयोग को अनित्य माना जाय तो उनके वियोग में कभी आर्तध्यान या दुर्ध्यान नहीं होगा । जो भी पारिवारिक संयोग खडा हुआ हैं, वह आज नहीं तो कल टूटने वाला हैं, यह बात दिमाग में स्थिर हो गई हो तो वियोग की वेदना नहीं होती हैं, अन्यथा पुत्र-पति-पिता-माता आदि के वियोग में यह जीव व्यर्थ ही कल्पांत रुदन कर भयंकर पाप कर्म का ही बंध करता है ।

निसा-विरामे परि-भावयामि, गेहे पलित्ते किमहं सुयामि ।
डज्झंत-मप्पाण-मुविक्खयामि, जं धम्म-रहिओ दिअहा गमामि ॥39॥

शब्दार्थ

निसा-विरामे=रात्रि के अंत में,	**मप्पाण**=आत्मा की
परि-भावयामि=मैं सोचता हूँ,	**मुविक्खयामि**=उपेक्षा करता हूँ,
गेहे=घर में, **पलित्ते**=जलते हुए,	**जं**=जो,
किमहं=मैं कैसे,	**धम्म-रहिओ**=धर्म के बिना,
सुयामि=सोया हुआ हूँ ?	**दिअहा**=दिन को,
डज्झंत=जलती हुई,	**गमामि**=पसार कर रहा हूँ ।

अर्थ : रात्रि के अंत में मैं सोचता हूँ कि जलते हुए घर में मैं कैसे सोया हुआ हूँ? जलती हुई आत्मा की मैं क्यों उपेक्षा करता हूँ ? धर्म रहित दिन प्रसार कर रहा हूँ !

विवेचन : घर में आग लगी हो और आदमी सोता रहे तो उसे हम मुर्ख ही कहेंगे । समझदार तो वह कहलाता है, जो आग के समाचार मिलते ही, अपने प्राण बचाने के लिए तुरंत खड़ा हो जाता है ।

सामान्यतया आग से तो हर कोई व्यक्ति तुरंत सावधान हो जाता है । क्योंकि आग की भयंकरता से हर कोई परिचित है । उस आग से होनेवाला नुकसान प्रत्यक्ष दिखाई देता है । परंतु उस आग से भी खतरनाक आग है, क्रोध की ।

'उपमिति भव प्रपंचा' ग्रंथ में क्रोध को वैश्वानर अर्थात् आग की उपमा दी है । बाहर की आग लकड़ी व देह आदि को जलाती है । जबकि आत्मा में पैदा होनेवाली क्रोध की आग आत्मिक गुणों को जलाकर खाक कर देती है ।

बाहर की आग से होनेवाले नुकसान सामान्य है । मकान, गोदाम या खेत में आग लग गई हो और कुछ नुकसान हो गया हो तो कुछ महेनत करके उस धन की पूर्ति की जा सकती हैं । परन्तु भीतर तो पैसों से कोई मूल्य आंका नहीं जा सकता है । करोड़ों वर्षों के संयम की साधना, क्रोध की आग में भस्मीभूत हो जाती है ।

महाविदेह क्षेत्र में चारित्र का उत्कृष्ट काल 8 वर्ष न्युन एक करोड़ पूर्व वर्ष है । 84 लाख को 84 लाख से गुणा करने पर जो संख्या आती है, उसे 1 पूर्व कहते है, ऐसे एक करोड़ पूर्व वर्ष की संयमसाधना क्रोध द्वारा समाप्त हो जाती है । क्रोध की आग बहुत ही भयंकर है । आश्चर्य तो यह है कि अच्छे अच्छे साधक भी इस आग में झुलस जाते है । क्रोध की आग से बचना बहुत ही कठिन है ।

मुक्ति की साधक आत्मा तो यह विचार करती है, 'अहो ! धर्म सिवाय मेरे ये सारे दिन व्यतीत हो रहे है । अब मेरा क्या होगा ?' जिसके दिल में आत्म चिंता हो, जिसे आत्म-हित की चिंता सता रही हो, उसे मस्ती से नींद भी कैसे आ सकती है !

जा जा वच्चइ रयणी, न सा पडि-नियत्तइ ।
अहम्मं कुण-माणस्स, अहला जंति राइओ ।।40।।

शब्दार्थ

जा जा=जो जो,	**अहम्मं**=अधर्म,
वच्चइ=बीत जाती है,	**कुण-माणस्स**=करने वाले की,
रयणी=रात्रि,	**अहला**=निष्फल,
न=नहीं,	**जंति**=जाती है,
सा=वो,	**राइओ**=रातें ।
पडि-नियत्तइ=लौटती है,	

अर्थ : जो-जो रातें बीत जाती हैं, वे वापस नहीं लौटती हैं । अधर्म करनेवाले की सभी रातें निष्फल ही जाती हैं ।

विवेचन : गृहस्थ जीवन में कदम-कदम पर हिंसा आदि पापों की प्रवृत्ति होती रहती है । उन पाप की प्रवृत्तियों में जीवन की निष्फलता ही है ।

गृहस्थ जीवन में सामायिक और पौषध में जो समय व्यतीत होता है, वह सफल है, क्योंकि सामायिक और पौषध दरम्यान गृहस्थ पापों का सर्वथा त्याग करता है । गृहस्थ जीवन में एकेन्द्रिय की हिंसा का त्याग नहीं होता है, परंतु जब गृहस्थ सामायिक और पौषध में होता है, तब एकेन्द्रिय की हिंसा का भी त्याग करता है । वह समय उसका सफल और सार्थक माना जाता है ।

खोई हुई अन्य वस्तु को धन द्वारा प्राप्त किया जा सकता है, परंतु खोया हुआ समय, कितना भी धन देने पर पुनः प्राप्त नहीं किया जा सकता है । समय सबसे अधिक मूल्यवान् है, परंतु मोह के अधीन बनी आत्मा समय का सही मूल्यांकन नहीं कर पाती है और अपने अमूल्य समय को व्यर्थ ही गंवा देती है ।

अधर्म का आचरण कर आत्मा अपने अमूल्य समय को नष्ट करती है । अज्ञानी लोग अर्थार्जन आदि की प्रवृत्ति में या उसमें सफलता प्राप्त होने पर अपने समय को सार्थक समझते हैं, परंतु वह अज्ञानता का ही तांडव नृत्य है । समझदार और विवेकी वही कहलाता है, जो वीतराग कथित धर्म की आराधना-साधना में उद्यमशील बनकर अपने जीवन को सफल बनाता है । समय किसी की इंतजारी नहीं करता है । Time and tide wait for non. समय रहते अपना आत्महित कर लेना चाहिये । जो प्रमाद द्वारा समय को नष्ट करता है, तो समय उसी को नष्ट कर देता है ।

जस्सत्थि मच्चुणा सक्खं, जस्स वऽत्थि पलायणं ।
जो जाणे न मरिस्सामि, सो हु कंखे सुए सिया ।।41।।

शब्दार्थ

जस्स=जिसे, **अत्थि**=है,	**जाणे**=जानता है, **न**=नहीं,
मच्चुणा=मृत्यु के साथ,	**मरिस्सामि**=मरुंगा,
सक्खं=मित्रता, दोस्ती,	**सोहु**=वही ही,
वा=अथवा,	**कंखे**=इच्छा रखता है,
पलायणं=भाग सकता है,	**सुए**=कल,
जो=जो व्यक्ति,	**सिया**=होगा ।

अर्थ : जिसे मृत्यु से दोस्ती है अथवा जो मृत्यु से भाग सकता है अथवा जो यह जानता है कि मैं मरनेवाला नहीं हूँ, वही सोच सकता है कि मैं कल धर्म करूंगा ।

विवेचन : धर्मराज युधिष्ठिर प्रतिदिन मध्याह्न समय तक दान देते थे । एकदिन एक याचक देरी से आया तो युधिष्ठिर ने उसे कहा, ``आज समय हो चुका है, तुम कल आना ।''

भीम ने युधिष्ठिर के ये शब्द सुन लिये । वह आयुधशाला में जाकर `विजय' की भेरी बजाने लगा । विजय की भेरी को सुनकर युधिष्ठिर ने पूछा– ``आज किस देश पर विजय प्राप्त की है ?''

भीम ने जवाब दिया, ``मेरे भाई ने आज काल पर विजय प्राप्त की है ।''

युधिष्ठिर ने कहा– ``काल पर तो कौन विजय प्राप्त कर सकता है ?''

भीम ने कहा, ``यदि आपने काल पर विजय प्राप्त नहीं की है तो आप उस याचक को कैसे कह सकते कि ``कल आना ।'' क्या कल आपके हाथों में है ?'' भीम की इस बात को सुनकर युधिष्ठिर को अपनी भूल का ख्याल आ गया ।

ग्रंथकार महर्षि कहते हैं कि धर्म को कल के भरोसे कौन छोड़ सकता है, जिसकी मौत के साथ दोस्ती हो या जो मौत से दूर भाग सकता हो ।

यह मौत तो कहीं भी किसी को भी गले लगा सकती है । राजा-महाराजा और चक्रवर्ती भी इस मौत से बच नहीं सकते हैं तो फिर मौत से सर्वथा मुक्ति पाने के उपायभूत साधन धर्म की आराधना-साधना में प्रमाद क्यों करें ! `कल' पर जब अपना अधिकार ही नहीं है तो धर्म-आराधना में प्रमाद किस बात का !

ठीक ही कहा है- **`काल करे सो आज कर, आज करे सो अब ।**
पल में परले होएगी, बहुरि करोगे कब ?'

दंडकलियं करिंता, वच्चंति हु राइओ य दिवसा य ।
आउसं संविलंता, गयावि न पुणो नियत्तंति ।।42।।

शब्दार्थ

दंडकलियं=दंड के जैसा आचरण, **करिंता**=करता हुआ, **वच्चंति**=जाता है, **हु**=निश्चय से, **राइओ**=रात्रि, **दिवसा**=दिन, **आउसं**=आयुष्य को, **संविलंता**=उखेड रहे है, **गयावि**=बीते हुए, **न**=नहीं, **पुणो**=वापस, **नियत्तंति**=लौटते है ।

अर्थ : हे आत्मन् ! दंड से उखेड़े जाते हुए मूल की तरह रात और दिन आयुष्य को उखेड़ रहे है, परंतु बीते हुए वे दिन वापस नहीं लौटते हैं ।

विवेचन : ज्यों-ज्यों रात और दिन बीतते हैं, त्यों त्यों हमारा आयुष्य घटता जाता है । व्यवहार में आदमी यह कहता है कि मेरी उम्र बढ़ रही है, परंतु सच तो यह है कि ज्यों-ज्यों दिन बीतते जाते हैं, त्यों-त्यों हमारी उम्र घटती जाती है ।

समय के बीतने पर आदमी का Bank Balance बढ़ सकता है । जमीन और जायदाद में बढ़ोतरी हो सकती है, परंतु आयुष्य का Balance तो अवश्यमेव घटता ही जाता है ।

जो दिन बीत गया, वह दिन अपने जीवन में लौटकर आनेवाला नहीं, अत: उम्र बढ़ने का आनंद नहीं होना चाहिए, परंतु उम्र घटने का अफसोस होना चाहिए ।

आज कई लोग अपना जन्मदिन मनाते हैं । परंतु उस दिन पर खुशी मनाने जैसी बात ही क्या है ? वास्तव में वह Birthday नहीं बल्कि Deathday है, क्योंकि हम दिन-प्रतिदिन मृत्यु के समीप ही पहुँच रहे हैं, अत: उसमें क्या राजी होने का है । परंतु अज्ञानी लोग बड़े उत्साह के साथ अपने जन्मदिन की खुशियाँ मनाते हैं ।

अपने आयुष्य की क्षण भंगुरता को जानकर धर्म आराधना में सतत उद्यमशील बनना चाहिए ! जब तक आयुष्य है, तब तक धर्म आराधना शक्य है । आयुष्य ही पूरा हो गया तो धर्म आराधना कैसे हो सकेगी ? अत: जब तक आयुष्य हैं, तब तक धर्म आराधना कर लेनी चाहिए ।

मानव भव मिला हो, पांच इन्द्रियाँ परिपूर्ण मिली हो, शरीर स्वस्थ हो, परंतु आयुष्य ही नहीं हो तो ये सब क्या काम के ? मानव जीवन की एक-एक क्षणे बहुत कीमती हैं, उन क्षणों को व्यर्थ गंवाना नहीं चाहिये ।

जहेह सीहो व मियं गहाय, मच्चू नरं णेइ हु अंतकाले ।
न तस्स माया व पिया व भाया, कालंमि तंमि सहरा भवंति ।।43।।

शब्दार्थ

जहेह=जिस प्रकार, **सीहो**=सिंह, **मियं**=मृग को, **गहाय**=पकडकर, **मच्चू**=मृत्यु, **नरं**=मनुष्य को, **णेइ**=ले जाता, **अंतकाले**=अंतिम समय में, **न**=नहीं है, **तस्स**=उसको, **माया**=माता, **पिया**=पिता, **भाया**=भाई, **कालंमि**=काल में, **तंमि**=तम्मं, **सहरा**=सहायक, **भवंति**=होता है ।

अर्थ : जिस प्रकार यहाँ सिंह मृग को पकड़कर ले जाता है, उसी प्रकार अंत समय में मृत्यु मनुष्य को पकडकर ले जाती है । उस समय माता-पिता, भाई आदि कोई सहायक नहीं होते हैं ।

विवेचन : भूखा सिंह जब शिकार के लिए निकलता है, तब वह किसी को नहीं छोड़ता है। वह अपने तीक्ष्ण पंजों के प्रहार से शक्तिशाली प्राणियों को भी मौत के घाट उतार देता है ।

किसी हिरण पर सिंह ने प्रहार किया हो तब उस हिरण को कौन बचा सकता है ? उस हिरण को बचाने की ताकत किसी में भी नहीं है। बस, इसी प्रकार जब मौत हमारे ऊपर हमला करती है, तब हमें कौन बचा सकेगा ?

माता-पिता, भाई-बहन, पत्नी-पुत्र आदि के दिल में भले ही अपने प्रति गाढ़ प्रेम क्यों न हो, परंतु उनमें कोई मौत से बचाने में समर्थ नहीं है।

पुत्र को रोते-बिलखते देखकर भी मौत उसके पिता को उठा ले जाती है ।

रोग और वृद्धावस्था से घिरे हुए और अत्यंत दयनीय स्थिति में रहे हुए पिता को देखते हुए भी यह मौत उसके पुत्र को उठा ले जाती है ।

सिद्ध भगवंतों को छोड चौदह राजलोक में रहे सभी जीवों पर मृत्यु का एक छत्री शासन है । प्रति समय अनंत अनंत जीव मरण के शरण हो रहे हैं । अनंत जीवों की मृत्यु के बीच हम जी रहे है, यह एक आश्चर्य ही है ।

अत: प्रमाद छोडकर जीवन की अमूल्य क्षणों का सदुपयोग करने में ही जीवन की सफलता-सार्थकता है। चोर डाकु आदि से रक्षण हो सकता है परंतु मृत्यु से रक्षण तो किसी भी हालत में संभव नहीं हैं, अत: मौत आए उसके पहले ही धर्म साधना कर लेनी चाहिये ।

जीअं जलबिंदु-समं, संपत्तीओ तरंग-लोलाओ ।
सुमिणय-समं च पिम्मं, जं जाणसु तं करिज्जासु ।।44।।

शब्दार्थ

जीअं=जीवन, **जलबिंदु**=जल के बिन्दु, **समं**=समान है, **संपत्तीओ**=संपत्तियाँ, **तरंग**=जल की लहर, **लोलाओ**=चंचल है, **सुमिणय**=स्वप्न, **पिम्मं**=स्नेह, **जं**=जो, **जाणसु**=जानो, **तं**=वह, **करिज्जासु**=करो ।

अर्थ : यह जीवन जलबिंदु के समान है । सारी संपत्तियाँ जल की तरंग की तरह चंचल है और स्वजनों का स्नेह स्वप्न के समान है, अतः अब जैसा जानो, वैसा करो ।

विवेचन : समुद्र से अलग पड़ी जल की बूंद का अस्तित्व कितनी देर रहता है ! पवन का एक झोंका आते ही अथवा सूर्यकिरण का स्पर्श होते ही उसका अस्तित्व सदाकाल के लिए ओझल हो जाता है । बस, इसी प्रकार इस संसार में जीवात्मा का आयुष्य भी जल की बूंद के समान अत्यंत क्षण भंगुर है, अर्थात् किसी प्रकार का छोटा-मोटा उपघात लगता है और यह आयुष्य समाप्त हो जाता है ।

पुण्य के उदय से प्राप्त संपत्तियाँ जल में पैदा होनेवाली तरंगों की भाँति अत्यंत चंचल हैं । जिस प्रकार समुद्र में मोजे उछलते रहते हैं और उसमें तरंगें पैदा होती रहती हैं, परंतु उन तरंगों का अस्तित्व कुछ देर के लिए होता है, चंद क्षणों में ही वे तरंगें समुद्र के जल में विलीन हो जाती हैं ।

मानव को प्राप्त धन-संपत्ति भी अत्यंत चंचल है । पाप का उदय होते ही करोड़ों की संपत्ति का मालिक भी भिखारी बन जाता है ।

संसार में जितने भी पारिवारिक संबंध हैं, उनमें जो परस्पर प्रेम-संबंध दिखाई देता है, वह भी स्वप्न तुल्य है ।

जिस प्रकार स्वप्न दशा में व्यक्ति कहीं का कहीं चला जाता है, स्वयं गरीब होते हुए भी राजा होने का स्वप्न देख सकता है । परंतु यह क्या ? स्वप्न में व्यक्ति राजा भी बन जाए तो भी उस राज्य का स्वामित्व कब तक ? नींद खुलते ही वह स्वामित्व सदा के लिए नष्ट हो जाता है ।

स्वप्न की दुनिया का आनंद कब तक ? जबतक स्वप्न चालू है, तब तक ! जैसे ही नींद खुलती है, सबकुछ अदृश्य-समाप्त हो जाता है । संसार में होनेवाले प्रेम संबंध भी स्वप्न की तरह अनित्य, नाशवंत और क्षणभंगुर हैं ।

संझराग-जल-बुब्बु-ओवमे, जीविए य जलबिंदुचंचले ।
जुव्वणे य नइवेग-संनिभे, पावजीव ! किमियं न बुज्झसे ? ।।45।।

शब्दार्थ

संझराग=संध्या के राग,	**जुव्वणे**=यौवन,
जलबुब्बु=पानी के परपोटे,	**नइवेग**=नदी का वेग,
ओवमे=की उपमावाला,	**संनिभे**=समान,
जीविए=जीवन,	**पावजीव !**=हे पापी जीव,
जलबिंदु=जल के बिन्दु-सामन,	**किमियं**=क्यो इसमे, **न**=नहीं,
चंचले=चंचल,	**बुज्झसे ?**=बोध पाता है ।

अर्थ : संध्या के राग, पानी के परपोटे और जलबिंदु के समान यह जीवन चंचल है और नदी के वेग के समान यह यौवन है । हे पापी जीव ! फिर भी तू क्यों बोध नहीं पाता है ?

विवेचन : वर्षाऋतु में आकाश में इंद्रधनुष बनता है, उस इंद्रधनुष में अनेक रंग होते हैं, वह दिखने में बहुत ही अच्छा लगता है । परंतु उस इन्द्रधनुष का अस्तित्व कब तक ? जब तक संध्या काल है, तब तक !

तालाब के पानी में परपोटे पैदा होते रहते हैं परंतु उनका अस्तित्व भी चंद क्षणों के लिए ही रहता है ।

समुद्र से अलग पड़े जलबिंदु का अस्तित्व कब तक ? क्षणभर के लिए ही है । बस, इस जीवन का अपना आयुष्य भी संध्या के राग, पानी के परपोटे और जल की बूंद की तरह अत्यंत ही चंचल है ।

नदी में जब बाढ़ आती है, तब उस में पानी का प्रवाह अत्यंत ही तीव्र होता है । वह बाढ़, नदी-तट पर रहे मजबूत वृक्षों को भी धराशायी कर देती है ।

मानव जीवन में रहा यौवन भी नदी के वेग की तरह है । जैसे बाढ़ आने पर पानी तीव्र गति से आगे बढ़ता है, उसी प्रकार यौवन के दिन भी बहुत ही जल्दी समाप्त हो जाते हैं ।

ग्रंथकार महर्षि कुछ कठोर शब्दों में आत्मा को संबोधित करते हुए कहते हैं कि हे पापी जीव ! तू यह सब कुछ जानता है तो फिर प्रतिबोध क्यों नहीं पाता है ? आत्मकल्याणकारी प्रवृत्ति के लिए जल्दी ही उत्साही क्यों नहीं होता है ? जरा सोच, यह जीवन तुझे पुनः जल्दी मिलनेवाला नहीं है । इस जीवन की 1-1 क्षण में हम वह साधना कर सकते है, जो देव भव के पल्योपम जितने समय में भी नहीं कर सकते है ।

अन्नत्थ सुआ अन्नत्थ, गेहिणी परिअणोऽवि अन्नत्थ ।
भूअबलिव्व कुडुंबं, पक्खितं हयकयंतेण ।।46।।

शब्दार्थ

अन्नत्थ=अन्यत्र, **सुआ**=पुत्र,	**कुडुंबं**=पूरा परिवार,
गेहिणी=पत्नी,	**पक्खितं**=फेंक दिया जाता है,
परिअणो=परिजन, **ऽवि**=भी,	**हय**=खेद अर्थ में-अहो !
भूअबलिव्व=भूत को फेंकी गई बलि की तरह,	**कयंतेण**=कृतांत के द्वारा ।

अर्थ : अहो ! निंदनीय ऐसे कृतांत ने भूत को फेंकी गई बलि की तरह पुत्र को अन्यत्र, पत्नी को अन्यत्र और परिजनों को अन्यत्र, इस प्रकार पूरे परिवार को छिन्न-भिन्न कर दिया है ।

विवेचन : शांति स्नात्र आदि मांगलिक प्रसंगों में तुच्छ देवों को संतुष्ट करने के लिए चारों दिशाओं में बलि-बाकलें उछाले जाते है । बलि-बाकलें अलग-अलग दिशाओं में फेंके जाते हैं । यह यमराज भी मानों बलि बाकले ही उछाल रहा हो, इस प्रकार सारे कुटुम्ब को तहस-नहस कर देता है ।

पुत्र मरकर अन्य गति में जाता है, पत्नी मरकर अन्य गति में जाती है और अन्य स्वजन मरकर अन्य गति में चले जाते हैं । इस प्रकार इस जन्म में मिला हुआ सारा कुटुंब एक ही जन्म के बाद अन्य-अन्य गतियों में विभक्त हो जाता है । कौन कहाँ गया ? इसका कहीं पता ही नहीं चलता है ।

इस संसार में परिवार के रुप में अनेक जीवों का मिलन, यह तो पंखी मेले की भांति है । जो एक दिन अवश्य ही छिन्न-भिन्न हो जानेवाला है ।

यह परिवार एक दिन बिखर जानेवाला है तो फिर परिवार के किसी सदस्य की मृत्यु के पीछे शोक या आक्रंद क्यों करना ?

किसी की मृत्यु में शोक-संताप करने से सिर्फ मोहनीय कर्म का ही बंध होता है । यह मानव जीवन कर्म बांधने के लिए नहीं हैं, बल्कि कर्म से छुटकारा पाने के लिए योग्य पुरुषार्थ करने के लिए है ।

अपनी आत्मा के भूतकाल को देखा जाय तो जगत् के सभी जीवों के साथ हमने कौटुंबिक संबंध किया है । एक आयुष्य पूरा होते ही ये संबंध बिखर जाते है, अत: इन संबंधों में इतनी ममता नहीं रखनी चाहिये । सांसारिक संबंधों में जितनी अधिक ममता होगी, वे संबंध हमारे लिए उतने ही अधिक दु:खदायी बनेंगे ।

जीवेण भवे भवे मिलियाइं देहाइं जाइं संसारे ।
ताणं न सागरेहिं, कीरइ संखा अणंतेहिं ।।47।।

शब्दार्थ

जीवेण=जीव के द्वारा,
भवे भवे=प्रत्येक भव में,
मिलियाइं=प्राप्त किए है,
देहाइं=शरीरो को,
जाइं=जितने,
संसारे=संसार में,
ताणं=उनकी,
न=नहीं,
सागरेहिं=सागरोपम के द्वारा,
कीरइ=की जा सकती,
संखा=संख्या, गीनती,
अणंतेहिं=अनंत के द्वारा ।

अर्थ : इस संसार में इस जीव ने भवोभव में जो शरीर प्राप्त किए हैं, उनकी संख्या अनंत सागरोपम से भी नहीं हो सकती है ।

विवेचन : इस संसार में परिभ्रमण कर रही अपनी आत्मा ने हर भव में नया-नया शरीर धारण किया है। भूतकाल में अपनी आत्मा के अनंत भव हुए हैं, अत: अपनी आत्मा ने अनंत शरीर धारण किए हैं । भूतकाल में अपनी आत्मा के द्वारा धारण किए हुए शरीरों की गिनती नहीं हो सकती है।

एक सागर में रहे जलबिंदुओं की गिनती संभव नहीं है, उससे भी अधिक शरीर हमारी आत्मा ने भूतकाल में धारण किए हैं ।

एक सागरोपम में जितने समय होते हैं, उससे भी अनंतगुणे शरीर अपनी आत्मा ने धारण किए हैं ।

ठीक ही कहा है–**'इस जीव ने भूतकाल में जितने शरीर छोड़े हैं, उनमें से कुछ शरीर इकट्ठे करें तो भी यह पूरा जगत् भर जाएगा ।'**

हर भव में अपनी आत्मा ने नए-नए शरीर बनाए हैं । भव के बदल जाने के बाद पूर्वभव के शरीर के साथ अपना कोई नाता-रिश्ता नहीं रहता है। तो फिर वर्तमान जीवन में तुझे जो शरीर मिला है, उस शरीर के प्रति तू इतनी अधिक ममता क्यों धारण करता है । शरीर की इस ममता ने तो आत्मा की कैसी बुरी हालत की है ।

हे जीव ! तुझे इस जीवन में जो शरीर मिला हैं उस पर तू गाढ ममता रख रहा है, परंतु यह शरीर स्थायी कहां है ? पानी के परपोटे की तरह यह शरीर क्षण भंगुर है । उसकी ममता को तू छोड दे और एक मात्र आत्म कल्याण के लिए पुरुषार्थ कर ! प्रमाद के अधीन होकर बहुत कुछ गुमाया है, अत: अब थोड़ा भी प्रमाद करने जैसा नहीं है ।

नयणोदयंपि तासिं, सागर सलिलाउ बहुयरं होइ ।
गलियं रुअ-माणीणं, माऊणं अन्न-मन्नाणं ।।48।।

शब्दार्थ

नयणोदयं=आँसु,
पि=भी,
तासिं=उनके,
सागर=समुद्र के,
सलिलाउ=पानी से,
बहुयरं=अधिक,
होइ=होता है,
गलियं=गिरे है,
रुअ-माणीणं=रोती हुई,
माऊणं=माता के,
अन्न-मन्नाणं=अन्य अन्य जन्मों में ।

अर्थ : अन्य-अन्य जन्मों में रोती हुई माताओं की आँखों में से जो आँसू गिरे हैं, उसका प्रमाण सागर के जल से भी अधिक हो जाता है ।

विवेचन : इस संसार में माता के वियोग में पुत्र रुदन करता है और पुत्र के वियोग में माता रुदन करती है ।

माता-पुत्र के वियोग का वर्णन करते हुए इस गाथा में कहा है कि इस संसार में पुत्र बनकर अपनी आत्मा ने अनेक माताओं को रुलाया है ।

भूतकाल में हुई उन माताओं के आंसुओं को इकट्ठा किया जाय तो उन आसुओं से एक महासागर खड़ा हो सकता है ।

बालक का जब जन्म होता है, उस समय उसे भयंकर पीड़ा होती है, उसे जन्म देनेवाली माँ को भी दिन में तारे दिखाई देते हैं । उस वेदना से विह्वल बनी माँ की आँखों से आँसुओं की धारा बह निकलती है ।

यद्यपि भूतकाल में दु:ख देकर हमने अपनी माँ को रुलाया है, उन सब आँसुओं का संग्रह नहीं किया जा सकता है, परंतु यहाँ काल्पनिक उपमा देकर समझाते हैं कि उन आँसुओं को इकट्ठा किया जाय तो एक महासागर खड़ा हो सकता है । तो अब समझदारी इसी में है कि हम नई माँ नहीं करें । और यह तभी संभव है-जब हमारा मोक्ष हो ।

मोक्षगत आत्माओं को माँ नहीं करनी पड़ती है । बाकी, इस संसार में तो माँ के बिना चलता ही नहीं है । माँ को रुलाना अच्छा नहीं है, परंतु संसार की स्थिति ही ऐसी हैं, जिसमें बालक माँ को रुलाता ही है । मोक्ष के सिवाय माँ को पीडा देने का अंत नहीं आ सकता है, अत: मोक्ष के लिए पुरुषार्थ करने में ही जीवन की सफलता है । मोक्ष हेतु पुरुषार्थ इसी जीवन में शक्य हैं, अत: अब थोडा भी प्रमाद करने जैसा नहीं है ।

जं नरए नेरइया, दुहाइँ पावंति घोर-णंताइं ।
तत्तो अणंतगुणियं, निगोअ-मज्झे दुहं होइ ।।49।।

शब्दार्थ

जं=जो, **नरए**=नरक मे, **नेरइया**=नारको को, **दुहाइँ**=दु:ख, **पावंति**=प्राप्त करते है, **घोर-णंताइं**=घोर भयंकर अनंत, **तत्तो**=उससे भी, **अणंतगुणियं**=अनंत गुण, **निगोअ-मज्झे**=निगोद में, **दुहं**=दु:ख, **होइ**=होता है ।

अर्थ : नरक में नारक जीव जिन घोर भयंकर अनंत दु:खों को प्राप्त करते हैं, उससे अनंतगुणा दु:ख निगोद में होता है ।

विवेचन : नरक में रहे नारकों की वेदना का कोई पार नहीं होता है । परमाधामी देव, नरक के जीवों को छेदन-भेदन आदि की पीड़ा सतत देते रहते हैं । पाप के उदय के कारण नरक के जीव भयंकर दु:ख सहन करते हुए भी मरते नहीं हैं । पारे की तरह उनका शरीर वापस जुड़ जाता है । नरक के जीव सतत मौत की इच्छा करते हैं, परंतु आश्चर्य है कि उनकी अकाल मृत्यु होती नहीं है ।

नरक के जीव परमाधामियों के पाँवों में गिरकर दीन-वचनों से प्रार्थना करते हैं, परंतु वे परमाधामी लेश भी दया नहीं बताते हैं, बल्कि और अधिक कष्ट देते हैं । नरक के जीवों को उनके पूर्व भव के पापों को याद कराकर तीव्र कष्ट देते हैं ।

नरक के जीवों को क्षण मात्र के लिए भी शांति नहीं होती है ।

वेदना से अभिभूत हुए मात्र सम्यग्दृष्टि नारक जीव अपनी ही आत्मा को उपदेश देते हुए समझाते हैं कि इस जगत् में सभी जीव अपने ही किए हुए कर्म के अनुसार सुख-दु:ख का अनुभव करते हैं, उसमें दूसरे जीव तो निमित्त मात्र होते हैं, अत: दु:ख में निमित्त होनेवाले जीवों पर रोष करना किसी भी तरह उचित नहीं है ।

नरक के जीवों को जो भयंकर वेदना होती है, उससे अनंतगुणी वेदना निगोद के जीवों को होती है । नरक में व्यक्त पीड़ा है, परंतु आखिर 33 सागरोपम के बाद भी उसका कहीं अंत आ जाता है, परंतु निगोद के जीवों की कायस्थिति तो अनंत उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी है । उस निगोद में से तत्काल बाहर निकलने का कोई चांस Chance नहीं मिलता है । अत: इस भव में ऐसी कोई प्रवृत्ति नहीं करनी चाहिये, जिससे आत्मा को निगोद में जाना पडे । निगोद तो नरक से भी ज्यादा भयंकर है ।

तंमि वि निगोअ मज्झे, वसिओ रे जीव ! विविह-कम्म-वसा ।
विसहंतो तिक्खदुहं, अणंत पुग्गल परावत्ते ।।50।।

शब्दार्थ

तंमि=उस में, **वि**=भी,	**कम्म-वसा**=कर्मों के वश,
निगोअ=निगोद,	**विसहंतो**=रहते हुए,
मज्झे=में,	**तिक्खदुहं**=तीक्ष्ण दु:खों को,
वसिओ=बसा है,	**अणंत**=अनंत,
रे जीव=हे जीव !	**पुग्गल परावत्ते**=पुद्गलपरावर्त काल तक ।
विविह=विविध,	

अर्थ : हे जीव ! विविध कर्मों की पराधीनता के कारण उस निगोद के मध्य में रहते हुए अनंत पुद्गल परावर्त काल तक तीक्ष्ण दु:खों को तूने सहन किया है ।

विवेचन : तीव्र मोह का उदय, महाभयानक अज्ञान और तीव्र अशाता वेदनीय का उदय हो तो जीव एकेन्द्रिय और उसमें भी निगोद की स्थिति को प्राप्त करता है । विविध कर्मों की परवशता के कारण वहाँ जीव अनंत उत्सर्पिणी-अवसर्पिणी काल प्रसार करता है ।

निगोद में एक मुहूर्त काल में निगोद के जीव के 65536 भव हो जाते हैं और वे प्रत्येक भव भी 256 आवलिका प्रमाण होते हैं ।

निगोद की कायस्थिति बहुत ही ज्यादा है और वहाँ निरंतर जन्म-मरण की सजा रही हुई है । 7 वीं नरक से भी अनंत गुणी वेदना निगोद में रही हुई है ।

कर्म की परवशता के कारण आत्मा अनंत सूक्ष्म क्षेत्र पुद्गल परावर्त काल तक निगोद में रह सकती है । इतनी लंबी कायस्थिति को पूर्ण करना कितना कठिन काम है !

कर्म का गणित बहुत ही भयंकर है । वर्तमान राज्य की कोर्ट में गुनाह करने पर भी उसकी सजा से व्यक्ति बच सकता है, जब कि कर्म की Court ऐसी है जहाँ व्यक्ति को अपने गुनाह की 100 गुणा-1000 गुणा-लाख गुणा भी सजा भुगतनी पड़ती है । हे जीव ! निगोद की भयंकरता को तू सदैव अपनी आँख के सामने रख । चौदह पूर्वधर महर्षि भी प्रमाद के वशीभूत होकर निगोद में चले जाते है, अत: इस जीवन में थोडा भी प्रमाद करने जैसा नहीं है ।

निहरीअ कह वि तत्तो, पत्तो मणुयत्तणं पि रे जीव !
तत्थ वि जिणवर-धम्मो, पत्तो चिंतामणि-सरिच्छो ।।51।।

शब्दार्थ

निहरीअ=निकलकर, **कह वि**=कैसे भी, **तत्तो**=वहाँ से, **पत्तो**=प्राप्त किया है, **मणुयत्तणं**=मनुष्यपने को, **पि**=भी, **रे जीव**=हे जीव, **तत्थ**=उसमें, **वि**=भी, **जिणवर**=जिनेश्वर का, **धम्मो**=धर्म, **पत्तो**=प्राप्त हुआ, **चिंतामणि** =चिन्तामणि रत्न, **सरिच्छो**=समान ।

अर्थ : हे जीव ! किसी भी प्रकार से वहाँ से निकलकर तूने मनुष्यपने को प्राप्त किया और उसमें भी चिंतामणि रत्न के समान जिनेश्वर का धर्म तुझे प्राप्त हुआ ।

विवेचन : हे पुण्यात्मा ! तेरे पुण्य की कोई सीमा नहीं है । अनंतकाल से तू उस निगोद के जाल में फँसा हुआ था, वहाँ से बाहर निकलने के लिए कोई Chance नहीं था, फिर भी सद्‌भाग्य से तू बाहर निकल गया । वास्तव में, तेरे पुण्य की कोई सीमा नहीं है ।

इस मानवजन्म में भी तुझे अत्यंत ही दुर्लभ और चिंतामणि रत्न से भी अधिक कीमती ऐसे जिनेश्वर के धर्म की प्राप्ति हो गई है । इस धर्म की आराधना कर तू शीघ्र ही मुक्तिमार्ग में आगे बढ़ सकता है । परंतु इसके लिए तुझे साधना-मार्ग में अत्यंत ही बाधक ऐसे प्रमाद दोष का त्याग करना होगा । यह प्रमाद तेरा भयंकर शत्रु है, जो तेरे अमूल्य समय को ऐसे ही खा जाता है ।

अज्ञानी बालक चिंतामणि रत्न को काच का टुकड़ा समझ लेता है और एक कौए को उड़ाने के लिए भी उसे फेंक देता है । बालक के मन चिंतामणि रत्न की कोई कींमत नहीं होती है । उसी प्रकार मोहाधीन जीव को भी चिंतामणि रत्न से भी बढ़कर ऐसे जिनेश्वर प्ररूपित धर्म की कोई कींमत नहीं होती है । संसार के क्षणिक व तुच्छ सुखों के पीछे वह उस जिनधर्म की भी उपेक्षा करने के लिए तैयार हो जाता है, यह उसकी कितनी कमनसीबी है ।

चिंतामणि रत्न तो एक जीवन में सुख और सुख सामग्री देगा, जब कि जिन धर्म तो भवोभव के दु:ख का अंत लाकर शाश्वत अजरामर मोक्ष सुख प्रदान करेगा । जैन शासन तो चिंतामणि रत्न से भी बढकर है । ऐसा अमूल्य धर्म तुझे प्राप्त हुआ है, तो अब थोडा भी प्रमाद करने जैसा नहीं है । प्रमाद तो आत्मा के पतन के लिए अंध कूप समान है । उस अंध कूप में गिरने के बाद उससे बचना बहुत कठिन ही है ।

पत्ते वि तंमि रे जीव ! कुणसि पमायं तुमं तयं चेव ।
जेण भवंध-कूवे, पुणो वि पडिओ दुहं लहसि ।।52।।

शब्दार्थ

पत्ते वि=प्राप्त करने पर भी,	**चेव जेण**=जिसके द्वारा,
तंमि=वह (मनुष्यपना)	**भवंध-कूवे**=संसार रुपी कुँआ,
रे जीव !=हे जीव !	**पुणो**=वापस,
कुणसि=करता है,	**वि**=भी,
पमायं=प्रमाद,	**पडिओ**=गिरकर,
तुमं=तू, **तयं**=वह,	**दुहं**=दु:ख,
चेव=ही,	**लहसि**=प्राप्त करता है ।

अर्थ : हे जीव ! वह श्रेष्ठ धर्म प्राप्त होने पर भी तू वापस वो ही प्रमाद करता है कि जिसके फलस्वरूप इस संसार रूपी अंध कुंए में गिरकर दु:ख को प्राप्त करेगा ।

विवेचन : मद्य, विषय ,कषाय, निद्रा और निंदा (विकथा) ये पाँच प्रमाद हैं। देवों को भी दुर्लभ ऐसे मानव जन्म को प्राप्त करके भी अधिकांश मनुष्य इन्हीं पाँच प्रमादों के चंगुल में फँस जाते हैं और अपना समय व्यर्थ गँवा देते हैं।

मद्यपान अर्थात् शराब आदि नशीली वस्तु का सेवन। शराबी, शराब पीकर अपने आपको ही भूल जाता है। वह न बोलने के शब्द बोलता है और नहीं करने योग्य कार्य कर देता है। शराब के नशे में दिमाग पर से नियंत्रण हट जाता है।

पाँच इन्द्रियों का विषय सेवन भी भयंकर कोटि का प्रमाद है।

शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श ये पाँच इन्द्रियों के पाँच खुराक हैं।

कान को मधुर संगीत पसंद है। आँखों को सुंदर रूप पसंद है। नासिका को सुगंध पसंद है। जीभ को स्वादिष्ट भोजन पसंद है और स्पर्शन इन्द्रिय को सुकोमल स्पर्श, स्त्री का संग आदि पसंद है।

इन पाँच इन्द्रियों के पाँच विषयों में जीव जल्दी आकर्षित हो जाता है।

दीपक की ज्योति को देखकर जिस प्रकार पतंगा उसके आलिंगन के लिए लालायित हो जाता है और फिर उन विषयों के जाल में इस प्रकार फँस जाता है कि फिर उसके लिए उस जाल में से बाहर निकलना खूब मुश्किल हो जाता है। बस, इसी प्रकार यह जीव भी पांच इन्द्रियों के जाल में फंसकर अपना जीवन ऐसे ही नष्ट कर देता है।

उवलद्धो जिणधम्मो, न य अणुचिण्णो पमाय-दोसेणं ।
हा ! जीव ! अप्पवेरिअ, सुबहुं पुरओ विसूरिहिसि ।।53।।

शब्दार्थ

उवलद्धो=प्राप्त कर,	**हा ! जीव !**=हे जीव (खेद अर्थ में)
जिणधम्मो=जैन धर्म,	**अप्पवेरिअ**=आत्म वैरी,
न य=नहीं किया,	**सुबहुं**=बहुत सा,
अणुचिण्णो=आचरण,	**पुरओ**=परलोक में,
पमाय-दोसेणं=प्रमाद के दोष के कारण,	**विसूरिहिसि**=खेद प्राप्त करेगा ।

अर्थ : हे जीव ! तुझे जिनधर्म की प्राप्ति हुई, परंतु प्रमाद दोष के कारण तूने उसका आचरण नहीं किया । हे आत्मवैरी ! परलोक में तू बहुत खेद प्राप्त करेगा ।

विवेचन : एक मात्र प्रमाद दोष के कारण, देवों को भी दुर्लभ ऐसे मानव भव और उसमें भी जिनधर्म की प्राप्ति होने के बाद मूढ़ ऐसा जीव प्रमाद दोष में फँसकर सब कुछ हार जाता है । क्रोध, मान, माया और लोभ रूप चार कषायों का सेवन भी जीवात्मा को जिनधर्म की आराधना से वंचित रखता है ।

ये चारों कषाय तो कसाई से भी ज्यादा खतरनाक है । कसाई तो पशु के द्रव्य प्राणों का नाश करता है, जबकि ये कषाय तो आत्मा के भाव-प्राणों की कतल करनेवाले हैं । इन कषायों का क्षणभर भी विश्वास करने जैसा नहीं है । करोड़ो वर्षों की तपसाधना और संयमसाधना को यह क्रोध कषाय जलाकर भस्मीभूत कर देता है । वर्षों तक तप करने में कितना कष्ट सहन किया, परंतु क्रोध की एक ही चिनगारी उस तप की कमाई को साफ कर देती है ।

ठीक ही कहा है-

'क्रोधे क्रोड पूरवतणुं, संयम फल जाय ।
क्रोध सहित तप जे करे, ते तो लेखे न थाय ।।'

क्रोध सहित तप का फल एक फूटी बादाम भी नहीं है ।

अहंकार ने भी अच्छे-अच्छे साधकों का पतन करा दिया है । अहंकार भी आत्मा का छिपा दुश्मन ही है ।

अहंकारी को तो लगता है- 'ओहो ! मेरा मान बढ़ रहा है, मेरा सम्मान बढ़ रहा है, मेरी इज्जत बढ़ रही है' परंतु यह अहंकार साधना के प्राण को ही खा जाता है । अहंकारी नम्र नहीं बन सकता । अहंकारी कभी माफी नहीं मांगेगा, क्योंकि माफी मांगते समय उसका अहंकार उसे रोकने की ही कोशिश करेगा ।

सोयंति ते वराया, पच्छा समुवट्ठियंमि मरणंमि ।
पाव-पमाय-वसेणं, न संचिओ जेहिं जिणधम्मो ।।54।।

शब्दार्थ

सोयंति=शोक करते है, **ते**=वे,	**पमाय-वसेणं**=प्रमाद के वश होकर,
वराया=बिचारे, **पच्छा**=बाद में,	**न**=नहीं,
समुवट्ठियंमि=उपस्थित होने पर,	**संचिओ**=संचय किया,
मरणंमि=मरण के,	**जेहिं**=जिनके द्वारा,
पाव=पाप रुप,	**जिणधम्मो**=जिन धर्म को ।

अर्थ : पाप रूप प्रमाद के वशीभूत होकर जिन्होंने जिनधर्म का संचय नहीं किया, वे बेचारें ! मृत्यु के उपस्थित होने पर शोक करते हैं ।

विवेचन : देव और नारकों तथा मनुष्य में भी 63 शलाका पुरुष, चरम शरीरी आत्माएँ और युगलिक मनुष्यों का आयुष्य निकाचित होता है । उनके आयुष्य पर किसी प्रकार का उपघात नहीं लगता है । उनकी कभी अकालमृत्यु नहीं होती है । वे अपना आयुष्य पूरा-पूरा भोगते हैं ।

परंतु वर्तमान समय में अपना आयुष्य तो सोपघाती है । किसी भी प्रकार के उपघात द्वारा अपने आयुष्य का नाश हो सकता है ।

तो फिर धर्म आराधना में प्रमाद किस बात का ? परंतु आश्चर्य है कि यह जीव मद्य आदि प्रमाद के वशीभूत होकर सब कुछ भूल जाता है ।

निंदा और निद्रा ये भी आत्मा के भयंकर शत्रु हैं । कई लोग कुछ काम न हो तो अपना समय नींद में प्रसार करते हैं । नींद में कितना समय हाथ में से निकल जाता है, उसका पता ही नहीं चलता है ।

निंदा-विकथा भी भयंकर प्रमाद है । किसी के दोषों का प्रगटीकरण करने से हमें कुछ भी हाथ नहीं लगता है, परंतु निंदा का भयंकर पाप अपने ही कपाल पर चोटता है ।

जब तक आयुष्य की अमूल्य क्षणें हाथ में होती हैं, तब तक जीवात्मा को धर्म सुझता नहीं है और जब मौत आंख के सामने आती है, तब धर्म सुझता है । परंतु उस स्थिति में धर्म की आराधना कैसे संभव है ? अत: प्रमाद छोड़कर धर्म आराधना करने में ही सच्चा हित है ।

अन्य देव, तिर्यंच या नरक के भव में जो आराधना शक्य नहीं है, वह आराधना इसी जीवन में शक्य है, अत: इस जीवन की प्रत्येक क्षण को अमूल्य समझकर उसे सफल बनाने का प्रयत्न करना चाहिये ।

धी धी धी संसारं, देवो मरिऊण जं तिरी होइ ।
मरिऊण रायराया, परिपच्चइ निरय-जालाहिं ॥55॥

शब्दार्थ

धी धी धी=धिक्कर हो,	**होइ**=बनते हैं,
संसारं=संसार को,	**मरिऊण**=मरकर के,
देवो=देव,	**रायराया**=राजाओ के राजा, चक्रवर्ती,
मरिऊण=मरकर के,	**परिपच्चइ**=पकाए जाते है,
जं=जो,	**निरय-जालाहिं**=नरक की ज्वालाओं में ।
तिरी=तिर्यंच, पशु,	

अर्थ : उस संसार को धिक्कार हो ! धिक्कार हो ! जिस संसार में देव मरकर तिर्यंच बनते हैं और राजाओं के राजा मरकर नरक की ज्वालाओं में पकाए जाते हैं ।

विवेचन : चार गति रूप इस संसार के प्रति तीव्र धिक्कार भाव बताने के लिए ही मूल गाथा में तीन बार `धिक् धिक् धिक्' शब्द का प्रयोग किया है ।

इस संसार की सबसे बड़ी विचित्रता है कि यहाँ जीव अपने-अपने कर्म के अनुसार नए नए जन्म को धारण करता है ।

यहाँ देदीप्यमान शरीरवाले देव भी मरकर तिर्यंच गति में चले जाते हैं ।

देवता असंख्याता हैं, जबकि मनुष्यों की संख्या मर्यादित है । सम्यग्दृष्टि देवता मरकर अवश्य मनुष्य के रूप में ही पैदा होते हैं, परंतु मिथ्यादृष्टि देवों के लिए मनुष्य का जन्म अत्यंत ही दुर्लभ है ।

अधिकांश देवता मरकर तिर्यंच पंचेन्द्रिय अथवा एकेन्द्रिय में जाते हैं ।

भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष और प्रथम दो वैमानिक देवता मरकर एकेन्द्रिय में पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में भी चले जाते हैं ।

जिन देवताओं को सुवर्ण-रत्न आदि के आभूषणों में ज्यादा आसक्ति होती है, वे देवता मरकर पृथ्वीकाय में चले जाते हैं ।

जिन देवताओं को स्नान-बावड़ी आदि में ज्यादा राग होता है, वे देवता मरकर अप्काय में पैदा हो जाते हैं ।

जिन देवताओं को बाग-बगीचे में ज्यादा आनंद आता है, वे देवता मरकर वनस्पतिकाय के रूप में पैदा हो जाते हैं ।

अहो ! देवताओं की भी जब यह हालत होती है तो मनुष्य की तो क्या बात करें !

जाइ अणाहो जीवो, दुमस्स पुप्फं व कम्मवाय-हओ ।
धण-धन्ना-हरणाइं, घर-सयण-कुडुंब-मिल्हे वि ॥56॥

शब्दार्थ

जाइ=होता है,	**धण**=धन
अणाहो=अनाथ,	**धन्ना**=धान्य,
जीवो=जीव,	**हरणाइं,**=आभरण, अलंकार,
दुमस्स=वृक्ष के,	**घर**=घर,
पुप्फं=पुष्प, **व**=के जैसा,	**सयण**=स्वजन,
कम्मवाय-हओ=कर्म रुपी हवा से मारा गया,	**कुडुंब**=कुटुंब,
	मिल्हे वि=मिलने पर भी ।

अर्थ : धन, धान्य, अलंकार, घर, स्वजन और कुटुंब के मिलने पर भी कर्म रूपी पवन से आहत वृक्ष के पुष्प की तरह अनाथ हो जाता है ।

विवेचन : वृक्ष पर पत्ते होते हैं, फल होते हैं, फूल होते हैं । इन सब चीजों से ही तो वृक्ष की सुंदरता है । वृक्ष पर पत्ते न हों, फल न हों और फूल न हों तो उस वृक्ष की सुंदरता ही क्या है ! परंतु जब पवन आंधी और तूफान के रूप में बहता हैं, तब उस वृक्ष पर से सारे पत्ते झड़ जाते हैं । उस समय वृक्ष का सारा सौंदर्य समाप्त हो जाता है ।

पुण्य के उदय से जीवात्मा को धन-धान्य-पुत्र-परिवार आदि बहुमूल्य सामग्रियाँ प्राप्त हुई हों, परंतु पाप कर्म रूपी पवन का तीव्र झोंका आता है और मानव की सारी संपत्तियाँ, सारा वैभव नष्ट हो जाता है, उसकी हालत अत्यंत ही दयनीय और करुण बन जाती है ।

जन्म के साथ ही जिस बालक के माता-पिता मर गए हों और उसका पालन पोषण करनेवाला कोई न हो तो उस बालक की क्या हालत होती है ? वह बालक एकदम अनाथ हो जाता है । बस, पुण्य समाप्त होते ही जब धन-धान्य, घर-स्वजन-कुटुंब आदि का वियोग हो जाता है, तब एक अनाथ बालक की भाँति मानव की हालत अत्यंत ही खराब हो जाती है ।

धन-धान्य, स्त्री-पुत्र आदि परिवार तो सामान्य पुण्य से भी प्राप्त हो सकते है, परंतु इन सबके साथ जैन शासन की प्राप्ति के लिए तो विशिष्ट पुण्य चाहिये । जब पूर्व के पुण्योदय से ऐसा वीतराग-परमात्मा का शासन मिला है तो अब प्रमाद में अमूल्य समय को व्यर्थ गंवाने जैसा नहीं है । अन्यथा अवसर हाथ से निकल जाने के बाद सिर्फ पश्चात्ताप ही हाथ लगेगा ।

वसियं गिरीसु वसियं, दरीसु वसियं समुद्द-मज्झंम्मि ।
रुक्खग्गेसु य वसियं, संसारे संसरंतेणं ।।57।।

शब्दार्थ

वसियं=बसी है,	**रुक्खग्गेसु**=वृक्ष के अग्र भाग पर,
गिरीसु=पर्वत पर,	**य**=भी,
दरीसु=गुफा में,	**संसारे**=संसार में,
मज्झंम्मि=मध्य में,	**संसरंतेणं**=परिभ्रमण करते हुए ।

अर्थ : संसार में परिभ्रमण करती हुई आत्मा पर्वत पर बसी हैं, गुफा में बसी हैं समुद्र में बसी है और वृक्ष के अग्र भाग पर भी रही है ।

विवेचन : इस अनंत संसार में परिभ्रमण करती हुई यह आत्मा कहाँ कहाँ नहीं रही है । कभी वह पर्वतों के शिखरों पर रही है तो कभी जलचर प्राणी के रूप में समुद्र की अतल गहराइयों में भी बसी है ।

तिर्यंच पक्षी के भवों में जब वृक्ष पर रहने के लिए घोसले भी नष्ट हो गए, तब वृक्ष की डाल पर बैठकर भी इस जीव ने कई रात्रियाँ प्रसार की हैं । उन भवों में दु:खों का कोई पार नहीं था-परंतु मजबूरी से सब कुछ सहन किया ।

साधु जीवन में या साधना-काल में थोडीसी प्रतिकूलता आती है और स्थान आदि की प्रतिकूलता के आने पर मन विह्वल बन जाता हैं, परंतु जरा सोचे, तिर्यंचों के भवों में अपनी आत्मा ने कितने कितने कष्ट सहन किये है ! तिर्यंच के भवों में ठंडी-गर्मी, भूख-प्यास, अनुकूलता-प्रतिकूलता आदि सब कुछ मजबूरी से सहन किया है ।

इस जीवन में आत्मकल्याण के ध्येय से थोडासा भी कष्ट सहन करेंगे तो कर्मों की निर्जरा बहुत हो सकेगी । अत: साधना मार्ग में आनेवाली प्रतिकूलताओं से लेश भी घबराने जैसा नहीं है ।

साधना मार्ग में आनेवाले जिन कष्टों को देखकर हमारी आत्मा घबराती है, वे सारे कष्ट हमारी आत्मा ने अनंती बार सहन किये है । संसार में सबसे बडा आश्चर्य यह है कि एक भव बदलने के साथ ही उस भव में सहन की गई सारी पीडाओं को आत्मा भूल जाती है । इस जीवन में थोडा भी कष्ट सहन करना भारी लगता हैं, परंतु अपनी आत्मा के भूतकाल को देखा जाय तो कौनसा कष्ट हमने सहन नहीं किया हैं ? यह विचार जागृत हो तो इस जीवन में कष्ट सहन करने का बल मिल सकता है ।

देवो नेरइउ त्ति य, कीडपयंगु त्ति माणुसो एसो ।
रूवस्सी य विरूवो, सुहभागी दुक्खभागी य ।।58।।

शब्दार्थ

देवो=देवता, **नेरइउ**=नारक, **त्ति**=भी, **य**=और, **कीड**=कीड़ा, **पयंगु**=पतंगा, **माणुसो**=मनुष्य, **एसो**=यह, **रूवस्सी**=सुंदर रुपवाला, **विरूवो**=खराब रुपवाला, **सुहभागी**=सुखी, **दुक्खभागी**=दुःखी ।

अर्थ : यह जीव देव बना है, नारक बना है, कीड़ा और पतंगा भी बना है और मनुष्य भी बना है । सुंदर रूपवाला और खराब रूपवाला भी बना है । सुखी भी बना है और दुःखी भी बना है ।

विवेचन : संसारी जीव कर्म के पराधीन है । जिस प्रकार कर्म नचाता है, उस प्रकार नाचता है । कर्म की परवशता के साथ संसारी जीव नाना प्रकार के वेष धारण करता है ।

कभी पुण्योदय से यह जीव देव बन जाता है, अद्‌भुत रूप और सौंदर्य प्राप्त करता है, दीर्घ आयुष्य और बाह्य सुख संपदा को प्राप्त करता है तो कभी तीव्र पापकर्म के उदय के कारण नारक बन जाता है, जहाँ उसका अत्यंत ही बीभत्स रूप होता है । लंबा आयुष्य होने पर भी तीव्र वेदना से पीडित होने के कारण सतत मौत की ही इच्छा करता रहता है । नरक में इस जीवात्मा को क्षणभर के लिए भी शांति नहीं रहती ।

यह जीव कभी कीड़ा और पतंगा बना है । मानव भव के रूप में उसका स्वतंत्र अस्तित्व और व्यक्तित्व था, परंतु कीड़े के भव में उसकी क्या हालत थी ! किसी के भी पाँव के नीचे आकर कुचलकर मर जाता था ।

कभी यह जीव मनुष्य भी बना है, तो कभी यह जीव अत्यंत सुंदर रूपवान् भी बना है । तो कभी अत्यंत कुरूप भी बना है, कभी सुखी तो कभी दुःखी भी बना है ।

संसार की यह विचित्रता है कि यहां अजन्मा के स्वभाववाली आत्मा को जन्म धारण करना पडता है । अमर रहने की स्वभाववाली आत्मा को बेमौत-कुत्ते की मौत मरना पडता है । अजर रहने के स्वभाववाली आत्मा को वृद्धावस्था की भयंकर पीडाएं सहन करनी पडती है ।

कर्म जिस प्रकार नचाए उस प्रकार से जीवात्मा कभी सुखी-कभी दुःखी होती रहती है ।

राउत्ति य दमगुत्ति य, एस सवागुत्ति एस वेयविऊ ।
सामी दासो पुज्जो, खलोत्ति अधणो धणवइत्ति ।।59।।

शब्दार्थ

राउत्ति=राजा भी,	**सामी**=स्वामी,
दमगुत्ति=भिखारी भी,	**दासो**=दास,
य=और,	**पुज्जो**=पूज्य भी,
एस=यह,	**खलोत्ति**=दुर्जन भी,
सवागुत्ति=चांडाल भी,	**अधणो**=निर्धन,
वेयविऊ=वेदपाठी,	**धणवइत्ति**=धन ही होता है ।

अर्थ : **यह जीव राजा और भिखारी भी बना है । चांडाल भी बना है और वेदपाठी भी बना है । स्वामी भी हुआ है और दास भी हुआ है । पूज्य भी बना है और दुर्जन भी बना है । धनवान भी बना है और निर्धन भी बना है ।**

विवेचन : इस संसार में परिभ्रमण करती हुई आत्मा ने कौनसा रूप धारण नहीं किया है । कभी यह जीव हजारों लोगों पर शासन चलानेवाला राजा भी बना है तो कभी अपना भी पेट भरना, इसके लिए मुश्किल हो जाय, ऐसा भिखारी भी बना है । कभी यह जीव वेद आदि को पढ़नेवाला ब्राह्मण भी बना है तो कभी यह जीव चांडाल भी बना है ।

कभी यह जीव स्वामी बना है तो कभी यह जीव दास भी बना है । कभी यह जीव पूज्य बना है तो कभी यह जीव अन्य सभी के लिए तिरस्कार का पात्र भी बना है ।

कभी यह जीव अमाप धन-संपत्ति का मालिक धनवान बना है तो कभी यह जीव भिखारी और दरिद्र भी बना है । इस संसार में इस जीव ने कौनसा भव नहीं किया, यह सवाल है ?

भूतकाल में अपनी आत्मा ने सब कुछ अवस्थाएं प्राप्त की हैं, अत: वर्तमान की समृद्धि को देख खुश होने जैसा नहीं है और वर्तमान की दुर्दशा को देख नाराज होने जैसा नहीं है । बस, एक मात्र आत्महित कैसे हो ? उसी को नजर समक्ष रखकर प्रयत्नशील बनने जैसा है । संसार में सुख-दु:ख का चक्र चलता रहता है, अत: सुख आए तो उसमें आसक्त न बने और दु:ख आए तो उसमें दीन न बने । सुख की आसक्ति और दु:ख में रही दीनता दोनो कर्म बंध करानेवाली है, अत: उन दोनो में सावधान रहना बहुत ही जरुरी है ।

नवि इत्थ कोइ नियमो, सकम्म-विणि-विड्ड-सरिस-कय-चिट्ठो ।
अन्नुन्नरूववेसो, नडुव्व परिअत्तए जीवो ।।60।।

शब्दार्थ

नवि=नहीं है,	**कय-चिट्ठो**=चेष्टा करता है,
इत्थ=यहाँ,	**अन्नुन्न**=अन्य अन्य,
कोइ=कोई भी,	**रूव**=रुप, **वेसो**=वेश,
नियमो=नियम,	**नडुव्व**=नट की तरह वेष को धारण कर,
सकम्म=अपने कर्म से,	**परिअत्तए**=बदलता रहा है,
विणि-विड्ड=जोडे हुए के,	**जीवो**=यह जीव ।
सरिस=समान,	

अर्थ : अपने किए हुए कर्म के अनुसार चेष्टा करता हुआ यह जीव नट की तरह अन्य-अन्य रूप और वेष को धारण कर बदलता रहता है इसमें कोई नियम नहीं है कि पुरुष मरकर पुरुष ही होता है ।

विवेचन : कुछ दर्शनकारों की यह मान्यता है कि मनुष्य मरकर मनुष्य के रूप में पैदा होता है और पशु मरकर पशु के रूप में पैदा होता है । परंतु ऐसा कोई नियम नहीं है । वास्तव में, इस संसार में जीवात्मा अपने अपने किए हुए कर्म के अनुसार ही सुख-दु:ख जन्म-मरण आदि प्राप्त करती है ।

जिस प्रकार एक ही नट रंगमंच पर आकर नाना प्रकार का रूप धारण करता है उसी प्रकार यह संसारी जीव अपने किए हुए कर्म के अनुसार अन्य-अन्य गति में अन्य-अन्य रूप को धारण करता है ।

कर्म राजा की कठपुतली बना हुआ यह जीव हर जन्म में नए-नए वेष धारण करता रहता है । कभी वह राजा बनता है तो कभी वह रंक बनता है । कभी पुरुष बनता है तो कभी स्त्री बनता है । कभी जवान बनता है तो कभी बूढ़ा होता है ।

आत्मा में अनंत शक्ति रही हुई हैं, परंतु जब तक आत्मा मोह के अधीन होती है, तब तक कर्म बलवान हो जाता है और आत्मा कमजोर हो जाती हैं, परंतु जब आत्मा पर से मोह का जोर घट हो जाता है, तब कर्म कमजोर हो जाता है और आत्मा बलवान बन जाती है ।

जब आत्मा कमजोर होती है, तब जिस प्रकार कर्म आत्मा को नचाता है, इस प्रकार से आत्मा को नाचना पडता है ।

ठीक ही कहा हैं- **'कर्म नचाए तिम ही नाचत, मायावश नट चेरी !'**

नरएसु वेयणाओ, अणोवमाओ असायबहुलाओ ।
रे जीव ! तए पत्ता, अणंतखुत्तो बहुविहाओ ।।61।।

शब्दार्थ

नरएसु=नरकगति में,	**रे जीव !**=हे जीव,
वेयणाओ=अशाता, वेदनाएँ,	**तए**=तू ने,
अणोवमाओ=उपमा न दी जा सके,	**अणंतखुत्तो**=अनंत बार,
असायबहुलाओ=अशाता से भरपूर,	**बहुविहाओ**=बहुत प्रकार की ।

अर्थ : हे जीव ! नरकगति में तूने अशाता से भरपूर और जिनकी कोई उपमा न दी जा सके, ऐसी वेदनाएँ अनंतबार प्राप्त की हैं ।

विवेचन : नरक में रहे हुए नारक जीवों की वेदना को समझाने के लिए कोई शब्द नहीं है अर्थात् शब्दों द्वारा उस वेदना को व्यक्त नहीं किया जा सकता है ।

केवली भगवंत अपने केवलज्ञान के बल से नरक में रहे हुए नारक जीवों की वेदनाओं को प्रत्यक्ष देखते और जानते हैं, परंतु वे केवली भगवंत भी नरक में रहे नारकी जीवों की वेदना को शब्दों की सीमा में बाँध नहीं सकते हैं अर्थात् नारक जीवों को जो वेदना है, वह शब्दातीत है ।

मनुष्य लोक में मनुष्य-तिर्यंच में रही वेदना से अनंतगुणी वेदना नारक जीवों को प्रतिक्षण होती है ।

जगत् में रही सभी घी आदि खाद्य पदार्थों का भक्षण कर ले तो भी उनकी क्षुधा शांत न हो, ऐसी क्षुधा उन्हें हर समय रहती है और सभी समुद्रों का जल पी जाय तो भी उनकी प्यास न बुझे, इतनी प्यास उन्हें होती है ।

तीक्ष्ण छुरी से खुजलाने पर भी जिनकी खाज की पीड़ा शांत न हो, ऐसी भयंकर खुजली उन्हें सतत रहती है ।

नरक में रहे जीवों को ठंडी, गर्मी, क्षुधा, प्यास, खुजली, पराधीनता, ज्वर, दाह, भय और शोक की पीड़ा सतत रहती है ।

भूतकाल में अनेक बार नरक की यातनाओं को सहन करने पर भी आज हम उनसे सर्वथा अज्ञात हो गए है । आज थोडी भी पीडा होती है और मन आकुल-व्याकुल बन जाता है । मन विह्वल हो जाता है । हे जीव ! उन जिन वचन पर श्रद्धा कर अब जीवन में आए कष्टों को समता पूर्वक सहन कर ! इसीसे कर्म निर्जरा का लाभ प्राप्त हो सकेगा ।

देवत्ते मणुअत्ते, पराभि-ओगत्तणं उवगएणं ।
भीसण-दुहं बहुविहं, अणंत-खुत्तो समणुभूयं ।।62।।

शब्दार्थ

देवत्ते=देव भव में,	**भीसण-दुहं**=भयंकर दु:ख,
मणुअत्ते=मनुष्य भव में,	**बहुविहं**=बहुत प्रकार के,
पराभि-ओगत्तणं=पराधीनता के कारण,	**अणंत-खुत्तो**=अनंत वार,
उवगएणं=पाकर के,	**समणुभूयं**=अनुभव किये है ।

अर्थ : देव और मनुष्य भव में भी पराधीनता के कारण अनेक प्रकार का भयंकर दु:ख अनंतबार सहन किया है ।

विवेचन : सामान्यतया कहा जाता है कि नरक और तिर्यंचगति में दु:ख की बहुलता है और मनुष्य और देवगति में सुख की बहुलता है । परंतु देव और मनुष्य गति में भी पराधीनता का बहुत दु:ख रहा हुआ है ।

देवगति में भी चार कषायों में से लोभ कषाय और परिग्रह संज्ञा की बहुलता है, इस कारण पुण्य के उदय से बहुत कुछ समृद्धि प्राप्त होने पर भी वह हमेशा कम ही लगती है । अपने से अधिक समृद्ध देव को देख वह ईर्ष्या से जलता रहता है ।

मानव भव में मान कषाय और मैथुन संज्ञा की प्रबलता रहती है । थोड़ा भी अपमान सहन करना, उसके लिए मुश्किल होता है । हवा से जिस प्रकार फुटबाल फूल जाता है, उसी प्रकार अभिमान के कारण मानव फूल जाता है, वह अपने आपको I am something मानने लग जाता है ।

मानव प्राणी को सांसारिक भोग-सुखों में कहीं तृप्ति का अनुभव नहीं होता है । संसार की भोगसामग्री ज्यों-ज्यों मिलती रहती है, त्यों-त्यों उन सुखों की उसकी भूख बढ़ती जाती है । वह हमेशा अतृप्ति का ही अनुभव करता है ।

ईर्ष्या और लोभ संज्ञा के कारण देवलोक में रहे देवता भी दु:खी है । मनुष्य जीवन में भी दु:खों का पार नहीं है । कई मनुष्य टी.बी., केंसर, एड्स, डायाबिटीज्, हार्ट एटेक आदि आदि शारीरिक रोगों से ग्रस्त हैं तो कई आर्थिक चिंता, कर्जा, मानसिक तनाव, डिप्रेशन आदि से त्रस्त हैं । मानव जीवन में भी सुखी तो बहुत कम है । दु:खी लोग ही ज्यादा है । गरीबी, भूखमरी, अपमान, अनादर, तिरस्कार आदि-आदि दु:खों का भी कोई पार नहीं है । ये सभी दु:ख अपनी आत्मा ने अनंत बार सहन किये है ।

तिरियगइं अणुपत्तो, भीम-महा-वेयणा अणेग-विहा ।
जम्मण-मरणऽरहट्टे, अणंतखुत्तो परिब्भमिओ ।।63।।

शब्दार्थ

तिरियगइं=तिर्यंच गति को,	**मरण**=मृत्यु,
अणुपत्तो=प्राप्त करके,	**ऽरहट्टे**=अरहट्ट,
भीम-महा-वेयणा=महा भयंकर वेदना	**अणंतखुत्तो**=अनंतबार,
अणेग-विहा=अनेक प्रकार की,	**परिब्भमिओ**=परिभ्रमण किया है ।
जम्मण=जन्म,	

अर्थ : अनेक प्रकार की महा भयंकर वेदना से युक्त तिर्यंचगति को प्राप्तकर इस जीव ने जन्म-मरण रूप अरहट्ट में अनंतबार परिभ्रमण किया है ।

विवेचन : इस संसार में आत्मा का अधिकांश काल तिर्यंच गति में बीता है । तिर्यंच गति में भी जीव का अधिकांश काल एकेन्द्रिय में ही व्यतीत हुआ है । एकेन्द्रिय में भी जीव का अधिकांश काल वनस्पतिकाय में ही व्यतीत हुआ है । वनस्पतिकाय में भी जीव का अधिकांश काल साधारण वनस्पतिकाय में व्यतीत हुआ है ।

साधारण वनस्पतिकाय में भी जीव का अधिकांश काल सूक्ष्म निगोद में ही व्यतीत हुआ है । यह जीव जन्म-मरण की चक्की में खूब पीसा गया है ।

प्रबल पुण्य के उदय बिना देव और मनुष्य का भव प्राप्त नहीं होता है और संसार में अधिकांशत: पाप-प्रवृत्ति चलती रहती है, इस कारण जीवात्मा के अधिकांश भव नरक और तिर्यंच गति के ही होते रहते हैं । तिर्यंचगति में वेदना का कोई पार नहीं है । मानव भव में तो सुख-दु:ख में साथ देनेवाला कोई मिल जाता है । तिर्यंच के भव में साथ देनेवाला कौन है ? अपने सुख-दु:ख की अभिव्यक्ति करने के लिए तिर्यंच के पास व्यक्त वाणी भी नहीं है । उसे मूक होकर सब दु:ख सहन करने पड़ते हैं ।

भूतकाल में तिर्यंच गति में अपनी आत्मा ने बहुत बहुत सहन किया है ।

जावंति के वि दुक्खा, सारीरा माणसा व संसारे ।
पत्तो अणंत-खुत्तो, जीवो संसार-कंतारे ।।64।।

शब्दार्थ

जावंति=जितने,	**संसारे**=इस संसार में,
के वि=कोई भी, **दुक्खा**=दुःख,	**पत्तो**=प्राप्त किये है,
सारीरा=शारीरिक,	**अणंत-खुत्तो**=अनंत बार,
माणसा=मानसिक,	**जीवो**=इस जीव ने,
व=अथवा,	**संसार-कंतारे**=संसार रुपी जंगल में ।

अर्थ : इस संसार में जितने भी शारीरिक और मानसिक दुःख हैं, वे सब दुःख इस संसार में इस जीव ने अनंत बार प्राप्त किए हैं ।

विवेचन : इस संसार में अन्य-अन्य गति में रहे हुए जीवों के अलग अलग प्रकार के दुःख हैं । इस संसार में कई जीव शारीरिक दुःखों से परेशान हैं तो कई जीव मानसिक दुःखों से दुःखी हैं ।

शारीरिक कष्ट भी अनेक प्रकार के हैं । कोई भूख से दुःखी है, कोई प्यास से दुःखी है, कोई ठंडी से दुःखी है तो कोई गर्मी से दुःखी है । कोई अंगों के छेदन-भेदन से दुःखी है ।

चिंता यह मन की डायाबिटीज है । चिंता तो चिता से बढकर है । चिता तो सिर्फ मुर्दे को जलाती है, जबकि चिंता तो जीवित आदमी को भी भीतर से खोखला कर देती है ।

चिंता से खून भी जलता है । आदमी कमजोर हो जाता है । चिंता से ग्रस्त व्यक्ति आत्महत्या भी कर लेता है ।

इस संसार में शारीरिक और मानसिक दुःखों का कोई पार नहीं है ।

यह संसार आधि, व्याधि और उपाधि से भरा हुआ है । अशुभ कर्म के उदय से जीव नाना प्रकार की वेदनाओं को सहन करता रहता है । पराधीन अवस्था में इस जीव ने सभी प्रकार के दुःख सहन किए है ।

पराधीनता व अनिच्छा से भयंकर कष्ट भी सहन किए जाय, परंतु उसमें निर्जरा अल्प है, जबकि इच्छापूर्वक प्रसन्नतापूर्वक और एक मात्र आत्म कल्याण की कामना से दुःख सहन किया जाय तो सकाम निर्जरा है ।

देवों को भी दुर्लभ ऐसा यह मानव भव सकाम निर्जरा की साधना के लिए मिला है । इस जीवन को भी यदि ऐसे ही खो दिया तो फिर दीर्घकाल के बाद वापस Chance मिलनेवाला नहीं है ।

तण्हा अणंत-खुत्तो संसारे तारिसी तुमं आसी ।
जं पसमेउं सव्वो-दहीण-मुदयं न तिरिज्जा ।।65।।

शब्दार्थ

तण्हा=तृषा, प्यास,	**जं**=जिसे,
अणंत-खुत्तो=अनंत बार,	**पसमेउं**=शांत करने,
संसारे=इस संसार में,	**सव्वो-दहीण-मुदयं**=सभी समुद्र का पानी,
तारिसी=ऐसी,	**न**=नहीं,
तुमं=तुझे,	**तिरिज्जा**=समर्थ है ।
आसी=लगी है,	

अर्थ : संसार में अनंत बार तुझे ऐसी तृषा लगी, जिसे शांत करने के लिए सभी समुद्रों का पानी भी समर्थ नहीं था ।

विवेचन : संसार में भटकती हुई इस आत्मा ने प्यास की पीड़ा भी अनंतबार सहन की है । साधुजीवन में भी निर्दोष और अचित्त जल न मिले तो तृषा परिषह सहन करना होता है । इस प्रकार तृषा परिषह को समतापूर्वक सहन करने से कर्मों की अपूर्व निर्जरा होती है ।

साधुजीवन में सचित्त जलपान का सर्वथा निषेध है, अतः कहीं संयोगवश अचित्त जल न मिले तो भी साधु को सचित्त जलपान का निषेध ही है । ऐसे संयोगों में जब तक अचित्त जल न मिले, तब तक तृषा परिषह को सहन करना ही पड़ता है । इस प्रकार तृषा परिषह को सहन करने से कर्मों की एकांततः निर्जरा ही होती है ।

33-33 सागरोपम के दीर्घ आयुष्य में नरक के जीवों की प्यास इतनी तीव्र बनी होती है कि किसी भी उपाय से उस प्यास को शांत नहीं किया जा सकता है । सिर्फ उस प्यास को उपमा द्वारा समझाया जाता है कि महासागर जितना पानी पी ले तो भी वह प्यास बुझती नहीं है ।

नरक व तिर्यंच गति में पराधीन अवस्था में जीवात्माने खूब प्यास सहन की है, परंतु उससे आत्मा को कुछ भी लाभ नहीं हुआ है । कष्टों को प्रसन्नतापूर्वक सहन कर अपूर्व कर्म निर्जरा करने का एक महान् अवसर मनुष्य भव में प्राप्त हुआ है । अतः हे आत्मन् ! तू प्यास की पीडा से आकुल-व्याकुल मत बन । उस पीडा को समतापूर्वक सहन करने में ही एकांत लाभ है ।

आसी अणंतखुत्तो, संसारे ते छुहा वि तारिसिया ।
जं पसमेउं सव्वो, पुग्गलकाओ वि न तिरिज्जा ।।66।।

शब्दार्थ

आसी=लगी थी, **अणंतखुत्तो**=अनंतबार, **संसारे**=संसार में, **छुहा वि**=भूख भी, **तारिसिया**=वैसी, **जं**=जिसे, **पसमेउं**=शांत करने, **सव्वो**=सभी, **पुग्गलकाओ**=पुद्गल-समूह, **वि**=भी, **न तिरिज्जा**=समर्थ नहीं है ।

अर्थ : इस संसार में तुझे अनंतबार ऐसी भी भूख लगी है, जिसे शांत करने के लिए सभी पुद्गल भी समर्थ नहीं थे ।

विवेचन : भूख के समान कोई वेदना नहीं है । संसार में परिभ्रमण करती हुई अपनी आत्मा ने अनंत बार पराधीन होकर क्षुधा की वेदना सहन की है ।

सबसे अधिक क्षुधा की वेदना नरक गति में होती है । इस विश्व में रहे आहार के सभी पुद्‌गलों का उपभोग करने पर भी वह भूख की पीड़ा शांत न हो, ऐसी भूख की पीड़ा नरक के जीवों को सतत रहती है ।

तीव्र पापोदय के कारण नरक के जीवों को आहार की प्राप्ति नहीं होती है । जिंदगीभर उन्हें आहार की पीड़ा सहन करनी ही पड़ती है ।

22 परिषहों में सबसे पहला परिषह क्षुधा परिषह है । भूख की पीड़ा भी अपनी आत्मा ने खूब सहन की है ।

अधिकांश पशु-पक्षियों को भरपेट भोजन नहीं मिलता है । वे मजबूरी से भूख को सहन करते है । इस प्रकार भूख सहन करने पर भी उन्हें अकाम निर्जरा ही होती है ।

हे पुण्यात्मन् ! महान् पुण्योदय से भव सागर को तैरने में नौका समान मानव भव तुझे प्राप्त हुआ है । मोक्ष की साधना इसी भव में शक्य है, अतः इस साधना दरम्यान तुझे भूख की पीडा सहन करनी पडे तो भी तुझे आकुल व्याकुल नहीं होना है । साधु जीवन में निर्दोष भिक्षा आदि की प्राप्ति के लिए थोडी भूख की पीडा भी सहन करनी पडे तो उसे प्रसन्नता पूर्वक सहन करना !

उस भूख की पीडा को तुम प्रसन्नतापूर्वक सहन कर लोंगे तो अल्प समय में ही तुम अपूर्व कर्मनिर्जरा कर सकोंगे, अन्यथा बार बार नरक व तिर्यंच के भवों में दीर्घकाल तक वे पीडाएं सहन करनी पडेगी । समझदारी इसी में है कि उस पीडा को समतापूर्वक सहन कर ले ।

काऊण-मणेगाइं जम्मण-मरण-परियट्टण-सयाइं ।
दुक्खेण माणुसत्तं, जइ लहइ जहिच्छियं जीवो ।।67।।

शब्दार्थ

काऊण=करते हुए,	**दुक्खेण**=दु:ख से, बड़े कष्ट द्वारा,
मणेगाइं=अनेक,	**माणुसत्तं**=मनुष्यपने को,
जम्मण=जन्म,	**जइ**=इस प्रकार का,
मरण=मरण,	**लहइ**=प्राप्त कर सकता है,
परियट्टण=परिवर्तन,	**जहिच्छियं**=इच्छानुसार,
सयाइं=सैकड़ो,	**जीवो**=जीव ।

अर्थ : जन्म-मरण के सैकड़ों परिवर्तन करते हुए इस जीव को बडे कष्ट से इस प्रकार का इच्छानुसार मनुष्यपना प्राप्त कर सकता है ।

विवेचन : इस संसार में भटकती हुई आत्मा को मानवभव की प्राप्ति सुलभ नहीं है ।

एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय और पंचेन्द्रिय तिर्यंच आदि के भवों में भयंकर कष्ट सहनकर अकाम निर्जरा करते-करते आत्मा बहुत ही कठिनाई से मानव भव प्राप्त करती है । यह मनुष्य भव इतना सस्ता और सरल नहीं है कि हर किसी को यह सुलभता से मिल जाय ।

देव व नरक के जीव असंख्य है । पंचेन्द्रिय तिर्यंच, विकलेन्द्रिय एवं पृथ्वीकाय, अप्काय, तेउकाय और वाउकाय और प्रत्येक वनस्पतिकाय के जीव भी असंख्य है, जब कि साधारण वनस्पतिकाय के जीव अनंत है । एक ओर अनंत अनंत जीव है । तो दूसरी ओर मनुष्य संख्याता ही है ।

मनुष्य मरकर 24 दंडकों में जा सकता हैं जबकि तेउकाय और वाउकाय को छोडकर 22 दंडकों में से जीव मनुष्य बन सकता है ।

मनुष्य भव को पाने के लिए उम्मिदवार ज्यादा हैं और मनुष्य संख्याता है । विरल जीवों को ही मनुष्य भव प्राप्त हो सकता हैं । इसके लिए प्रबल पुण्य चाहिये । प्रबल पुण्योदय से यह भव मिला है तो अब साधना द्वारा इसे सफल बनाना चाहिये । शास्त्रकारों ने मानव जन्म को दश दृष्टांतों से दुर्लभ कहा है, परंतु ऐसे दुर्लभ जीवन को पाकर भी कोई विरल आत्मा ही इस जीवन को सफल-सार्थक बना पाती है । अधिकांश मनुष्य तो अर्थ और काम में लुब्ध होकर इस जीवन को ऐसे ही नष्ट कर देते है ।

तं तह दुल्लह-लंभं, विज्जुलया चंचलं च मणुअत्तं ।
धम्मंमि जो विसीयइ, सो काउरिसो न सप्पुरिसो ।।68।।

शब्दार्थ

तं तह=वैसा वह,	**धम्मंमि**=धर्म कार्य में,
दुल्लह-लंभं=दुर्लभता से प्राप्त होने वाला,	**जो**=जो व्यक्ति,
विज्जुलया=विद्युत् लता के समान,	**विसीयइ**=खेद करता है,
चंचलं=चंचल,	**सो**=वो व्यक्ति,
च=और,	**काउरिसो**=क्षुद्र पुरुष है,
मणुअत्तं=मनुष्यपने को,	**न**=नहीं कि,
	सप्पुरिसो=सत् पुरुष है ।

अर्थ : **उस दुर्लभ और विद्युत्लता के समान चंचल मनुष्यपने को प्राप्त कर जो धर्मकार्य में खेद करता है, वह क्षुद्र पुरुष कहलाता है, सत्पुरुष नहीं ।**

विवेचन : इस संसार में परिभ्रमण करती हुई आत्मा को चार वस्तुएँ अत्यंत ही दुर्लभता से प्राप्त होती हैं । उन चार वस्तुओं में सबसे पहली दुर्लभ वस्तु मानव भव ही है ।

तिर्यंच गति में अनंत जीव हैं । देव और नरक गति में भी असंख्य जीव हैं । 24 दंडकों में सबसे कम मनुष्य ही हैं ।

मनुष्य संख्याता हैं । इस भव को पाने के लिए उम्मिदवार बहुत हैं, परंतु उन सभी को यह भव आसानी से नहीं मिल पाता हैं ।

महान् पुण्य के उदय से ही जीवात्मा को मानव भव की प्राप्ति होती है ।

देव-दुर्लभ ऐसा मानव भव भी आकाश में चमकनेवाली बिजली की भांति अत्यंत चंचल है । किसी भी प्रकार के उपघात के लगने से इस जीवन का अंत आ सकता है । ऐसे दुर्लभ और चंचल आयुष्यवाले मानव भव को प्राप्त करके भी अधिकांश जीव धर्म की आराधना-साधना में प्रमाद ही करते हैं । यह अमूल्य जीवन भी क्षणिक भोग-सुखों के पीछे व्यर्थ गँवा देते हैं ।

धर्महीन मनुष्यों के लिए उपमा देते हुए ग्रंथकार महर्षि कहते हैं कि ऐसे पुरुष वास्तव में सत्पुरुष या सज्जन कहलाने के योग्य नहीं हैं । उनको तो दुर्जन ही कहना चाहिए । समझदार वही कहलाता है जो दुर्लभता से प्राप्त वस्तु की कींमत समझता है और उसके सदुपयोग के लिए प्रयत्नशील रहता है ।

हे जीव ! तू इस जीवन की कींमत समझ और इस जीवन को सफल बनाने के लिए प्रयत्नशील बन !

माणुस्स जम्मे तडिलद्धयंमि, जिणिंद-धम्मो न कओ य जेणं ।
तुट्टे गुणे जह धाणुक्कएणं, हत्था मल्लेव्वा य अवस्स तेणं ।।69।।

शब्दार्थ

माणुस्स जम्मे=मनुष्य जन्म में,	**गुणे**=डोरी,
तडिलद्धयंमि=बिजली की चमक की भांति,	**जह**=जिस प्रकार,
जिणिंद धम्मो=जिनेश्वर के धर्म को,	**धाणुक्कएणं**=धनुर्धर को,
न कओ=नहीं किया है,	**हत्था**=हाथ,
य=भी,	**मल्लेव्वा**=घिसना,
जेणं=जिसके द्वारा,	**य**=ही,
तुट्टे=टूट जाने के बाद,	**अवस्स**=अवश्य,
	तेणं=उसके द्वारा ।

अर्थ : धनुष की डोरी टूट जाने के बाद जिस प्रकार धनुर्धर को अपने हाथ घिसने पड़ते हैं, उसी प्रकार बिजली की चमक की भाँति मनुष्य-जन्म प्राप्त होने पर भी जिसने जिनेश्वर के धर्म की आराधना नहीं की, उसे बाद में पछताना ही पड़ता है ।

विवेचन : हे पुण्यात्मन् ! यह मानव-जन्म तुझे सांसारिक सुखों को भोगने के लिए नहीं मिला है । संसार के ये भोगसुख तो तुमने देव के भव में खूब भोगे हैं परंतु आश्चर्य है कि उन सुखों से जीवात्मा को कभी तृप्ति नहीं हुई है ।

सागर जितने मीठे जल को पीने से भी जिसकी प्यास शांत नहीं हुई हो, उसे घास के अग्र बिंदु पर रहे जल से कैसे संतोष होगा ?

देव भव में तो लाखों करोड़ों वर्षों का, पल्योपम और सागरोपम जितने असंख्य वर्षों का आयुष्य था, परंतु इस मानव-जन्म का आयुष्य तो कितना क्षणिक है !

देवदुर्लभ ऐसे मानव भव को प्राप्त करके भी जो मनुष्य प्रमाद के वशीभूत होकर धर्म की आराधना नहीं करता है, उसे अंतिम समय में पछताना ही पड़ता है । जिस प्रकार डोरी टूट गई हो तो धनुर्धर बाण कैसे चला पाएगा उसी प्रकार मानव जन्म का आयुष्य पूरा हो गया तो अन्य सब कुछ होने पर भी क्या कर पाओगे ?

मनुष्य जीवन मिल जाने पर भी जो धर्म का आचरण नहीं करता है, वह मुर्ख शिरोमणि ही है । हे जीव ! अब ऐसी मुर्खता का आचरण तू मत कर ! बार बार मुर्ख बनना, तेरे लिए शोभास्पद नहीं है ।

रे जीव निसुणि चंचल सहाव, मिल्लेवि णु सयल वि बज्झभाव ।
नव भेय परिग्गह विविह जाल, संसारि अत्थि सहुइंदयाल ।।70।।

शब्दार्थ

रे जीव=हे जीव !, **निसुणि**=सुनो, **चंचल**=चंचल, **सहाव**=स्वभाववाले, **मिल्लेवि णु**=प्राप्त होनेवाले, **सयल**=सारा, **वि**=भी, **बज्झभाव**=बाह्य भावको, **नव भेय**=नौ प्रकार के, **परिग्गह**=परिग्रह रुप, **विविह**=विविध प्रकार के, **जाल**=जाल, **संसारि**=संसार में, **अत्थि**=है, **सहुइंदयाल**=सब कुछ इन्द्रजाल समान ।

अर्थ : हे जीव ! सुनो ! चंचल स्वभाववाले इन बाह्य पदार्थों और नौ प्रकार के परिग्रह के जाल को यहीं छोड़कर तुझे जाना है । संसार में यह सब इंद्रजाल समान है ।

विवेचन : इस संसार में शरीर आदि जितने भी बाह्य पदार्थ हैं, वे सब चंचल स्वभाववाले और अनित्य हैं । धन, धान्य, क्षेत्र, वास्तु, रुप्य, सुवर्ण, कुप्य, द्विपद और चतुष्पद रूप जो बाह्य परिग्रह है, वह सब इन्द्रजाल की तरह अनित्य है ।

जिस प्रकार इन्द्रजालिक हाथचालाकी या तंत्र के बल से अविद्यमान वस्तु को भी बतला देता है, दर्शकों की आंखों में धूल डालता है, वह बहुत कुछ बताता है, परंतु होता कुछ नहीं है । उसी प्रकार यह मोहराजा भी जीवात्मा को लुभाने के लिए बाह्य पदार्थ और परिग्रह स्वरूप मूल्यवान वस्तुएँ बतलाता है । परंतु वास्तव में तो मृत्यु के समय जीवात्मा को कुछ भी हाथ नहीं लगता है । जीवन में खून का पसीना करके या माया प्रपंच करके लाखों की संपत्ति इकट्ठी की हो, परंतु मृत्यु के निकट आने पर वह सब कुछ लुप्त हो जाती है ।

जीवन में मेहनत करके इकट्ठी की हुई संपत्ति को छोड़कर भी यहाँ से अकेला ही विदाई ले लेता है ।

अमावस्या की घोर अंधेरी रात में आकाश में बिजली चमकती है और चारों ओर क्षण भर के लिए प्रकाश पैदा होता है । परंतु उस प्रकाश का अस्तित्व कितना क्षणिक है ! मानव जन्म का आयुष्य भी उस बिजली की भांति अत्यंत ही क्षणिक है । आयुष्य पूर्ण होते ही इस जीवन में जोडे हुए सारे संबंध पूरे हो जाते है । क्षणिक संबंधों में ममत्व धारण करना सिर्फ मुर्खता ही है । ऐसी मुर्खता अब न हो, इसके लिए जागृत रहना बहुत जरुरी है ।

पिय पुत्त मित्तघर घरणिजाय, इहलोइअ सव्व नियसुह सहाय ।
नवि अत्थि कोइ तुह सरणि मुक्ख, इक्कल्लु सहसि तिरिनिरय दुक्ख ।।71।।

शब्दार्थ

पिय=पिता, **पुत्त**=पुत्र, **मित्त**=मित्र, **घर**=घर, **घरणिजाय**=पत्नी आदि-समुह, **इहलोइअ**=इस जगत् में, **सव्व**=सभी, **नियसुह**=अपने अपने सुख के, **सहाय**=साथी है, **नवि**=नहीं, **अत्थि**=है, **कोइ तुह**=तेरे लिए कोई, **सरणि**=शरण, **मुक्ख**=हे मूर्ख, **इक्कल्लु**=अकेला ही, **सहसि**=तू सहन करता है, **तिरिनिरय**=तिर्यंच नरक के, **दुक्ख**=दु:ख ।

अर्थ : हे मुर्ख ! इस जगत् में पिता, पुत्र, मित्र, पत्नी आदि का समूह अपने-अपने सुख को शोधने के स्वभाववाला है । तेरे लिए कोई शरण रूप नहीं है । तिर्यंच और नरकगति में तू अकेला ही दु:खों को सहन करेगा ।

विवेचन : यह सारा जगत् स्वार्थ से भरा हुआ है । संसार के सभी संबंधों में स्वार्थ की बदबू रही हुई है । जहाँ देखो, जिधर देखो, संसार के सभी संबंधों में स्वार्थ की ही लीला रही हुई है । यदि तुम पिता हो तो पुत्र तुमसे कुछ पाना चाहता है । यदि तुम पुत्र हो तो पिता के दिल में तुमसे कुछ पाने की अपेक्षा है । यदि तुम पति हो तो तुम्हारी पत्नी तुम से कुछ पाना चाहती है । यदि तुम किसी की पत्नी हो तो पति के दिल में तुम से कई अपेक्षाएँ रही हुई हैं ।

आम की गुठली को आदमी तभी तक अपने पास रखता है, जब तक वह रस से जुड़ी हो । जिस दिन वह रस से अलग हो जाती है, उसे कचरे की टोकरी में फेंक दिया जाता है ।

बस, इस संसार में भी मानव की यही स्थिति है, जब तक तुमसे किसी का स्वार्थ पूरा होता रहेगा, तब तक यह दुनिया तुमसे प्रेम करेगी । लेकिन जिस दिन उनकी स्वार्थपूर्ति करना बंद कर दोगे उसी दिन से तुम्हारे प्रति रहा उनका प्रेम घटने लग जाएगा । स्वार्थ पूरा होने पर पत्नी भी पति का तिरस्कार करने के लिए, अनादर करने के लिए तैयार हो जाती है ।

एक समय सूर्यकांता महारानी प्रदेशी राजा को कहती थी, `स्वामी नाथ ! आपके अस्तित्व के साथ मेरा अस्तित्व है । जिस दिन आप नहीं रहोगे, उस दिन मैं भी नहीं रहूंगी ।'

परंतु वो ही सूर्यकांता महारानी समय बदलने पर अपने ही पति के प्राण लेने के लिए भी तैयार हो जाती है । अत: संसार के सभी संबंध स्वार्थ से जुडे है । परिवार के लिए आत्मा सब कुछ पाप करती हैं, परंतु मरने पर तो उन पापों की सजा जीवात्मा को अकेले ही भुगतनी पडती है ।

कुसग्गे जह ओसबिंदुए थोवं चिट्ठइ लंबमाणए ।
एवं मणुआण जीविअं, समयं गोयम ! मा पमायए ।।72।।

शब्दार्थ

कुसग्गे=घास के अग्र भाग पर, **जह**=जो, **ओसबिंदुए**=जल बिन्दु, **थोवं**=अल्पकाल के लिए, **चिट्ठइ**=रहता है, **लंबमाणए**=लटकता हुआ, **एवं**=वैसे ही, **मणुआण**=मनुष्य का, **जीविअं**=जीवन, **समयं**=एक समय भी, **गोयम !**= हे गौतम ! **मा पमायए**=प्रमाद मत कर ।

अर्थ : घास के अग्र भाग पर रहा जलबिंदु अल्पकाल के लिए रहता है, उसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी अल्पकाल के लिए है । अत: हे गौतम ! तू एक समय का भी प्रमाद मत कर ।

विवेचन : चरम तीर्थपति देवाधिदेव भगवान महावीर परमात्मा की अंतिम देशना, जो आज भी **उत्तराध्ययन सूत्र** के रूप में विद्यमान है, उसी उत्तराध्ययन सूत्र के चौथे अध्ययन में मानव जीवन की क्षणभंगुरता का निर्देश करते हुए भगवान महावीर परमात्मा ने गौतम स्वामी को संबोधित करते हुए कहा, ***''जिस प्रकार शरद ऋतु में घास के अग्र भाग पर रहे हुए जलबिंदु का अस्तित्व एक क्षणभर के लिए होता है । सूर्य के ताप की एक किरण के गिरने मात्र से ही उसका अस्तित्व सदा के लिए समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार मानव जीवन का भी अस्तित्व क्षणभंगुर अर्थात् एक क्षण में नष्ट हो जाने के स्वभाववाला है ।''***

आयुष्य की इस क्षणभंगुरता को जानकार प्रमाद के वशीभूत होने जैसा नहीं है, क्योंकि जब आयुष्य नहीं रहेगा तो धर्म आराधना के तेरे मनोरथ कैसे पूर्ण हो सकेंगे ?

आत्म-साधना के लिए जिस प्रकार पाँच इन्द्रियों की परिपूर्णता, शारीरिक आरोग्य आदि की अपेक्षा रहती है, उसी प्रकार आयुष्य का अस्तित्व भी बहुत जरूरी है । यदि आयुष्य ही नहीं होगा तो तू धर्म साधना कैसे कर पाएगा । अत: थोड़ा भी प्रमाद करने जैसा नहीं है ।

आयुष्य ही जब क्षण-विनश्वर है तो फिर प्रमाद किस बात का ?

'काल करे सो आज कर, आज करे सो अब ।' आयुष्य की क्षण भंगुरता को आंख के सामने रखकर कल की साधना आज ही कर लेने में जीवन की सफलता है । प्रमाद यह आत्मा का भयंकर शत्रु है, परंतु अपनी आत्मा ने उसे मित्र मान लिया है ।

संबुज्झह किं न बुज्झह ? संबोहि खलु पिच्च दुल्लहा ।
नो हु उवणमंति राइओ, नो सुलहं पुणरवि जीवियं ।।73।।

शब्दार्थ

संबुज्झह=तुम बोध पाओ, **किं न बुज्झह ?**=तुम्हे बोध क्यों नहीं होता है ? **संबोहि**=संबोधि, **खलु**=वास्तव में, **पिच्च**=परलोक में, **दुल्लहा**=दुर्लभ है, **नो**=नहीं, **हु उवणमंति**=निश्चय ही बीते हुए, **राइओ**=रात दिन, **नो सुलहं**=सुलभ नहीं है, **पुणरवि**=पुनः प्राप्त होना, **जीवियं**=यह जीवन ।

अर्थ : तुम बोध पाओ । तुम्हें बोध क्यों नहीं होता है ? वास्तव में परलोक में बोधि की प्राप्ति होना दुर्लभ है । जिस प्रकार बीते हुए रात-दिन वापस नहीं लौटते हैं, उसी प्रकार यह जीवन पुनः सुलभ नहीं है ।

विवेचन : सूत्रकृतांग नाम के आगम में **वैतालीय अध्ययन** में श्री आदिनाथ प्रभु के चरित्र का वर्णन आता है । उसमें भरत चक्रवर्ती से पराभव पाए हुए, आदिनाथ प्रभु के 98 पुत्र आदिनाथ प्रभु के पास आए । उस समय उनको प्रतिबोध करने के लिए आदिनाथ प्रभु ने उनको कहा, ``तुम बोध पाओ !'' सम्यग् बोध पाने के लिए यह सुंदर अवसर है । तुम इस समय बोध नहीं पाओगे तो फिर कब बोध पाओगे ?

मरने के बाद तुम यहाँ से कहाँ जाओगे, कौनसी गति में तुम जन्म लोगे-क्या तुम्हें पता है ? यहाँ इस जीवन में धर्मबोध पाने के लिए तुम्हें ढेरसारी सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं, क्या अगले जन्म में ये सब सामग्रियाँ प्राप्त होंगी ? नहीं, इसकी कोई गारंटी नहीं है ? यदि नहीं, तो इसी समय बोध क्यों नहीं पाते हो ?

जो रात और दिन बीत चुके हैं, वे अब वापस लौटनेवाले नहीं हैं । महान् पुण्य के उदय से देवों को भी दुर्लभ ऐसा मानवजन्म प्राप्त हुआ है अतः इस जीवन में लेश भी प्रमाद करने जैसा नहीं है ।

संसार में धन, पुत्र, परिवार और सत्ता आदि की प्राप्ति सुलभ है, परंतु एक मात्र बोधि अर्थात् जिन धर्म की प्राप्ति अत्यंत दुर्लभ है । अनित्य आदि बारह भावनाओं में बोधि दुर्लभ भावना आती है । उन भावना के स्वरुप का चिंतन किया जाय तो पता चलेगा कि बोधि की प्राप्ति होना, कितना दुर्लभ है । **लोगस्स सूत्र** के माध्यम से भी हम नित्य प्रभु से **बोधि-लाभ** की याचना करते है । प्रार्थना सूत्र में भी हम प्रभु से बोधिलाभ की प्रार्थना करते है । बोधि की दुर्लभता को जान उसे प्राप्त करने के लिए अपना प्रचंड पुरुषार्थ होना चाहिये ।

डहरा वुड्ढा य पासह, गब्भत्था वि चयंति माणवा ।
सेणे जह वट्टयं हरे, एवमाउ-खयंमि तुट्टइ ।।74।।

शब्दार्थ

डहरा=बालक, **वुड्ढा**=वद्ध,
य=और,
पासह=देखो !,
गब्भत्था वि=गर्भ में रहे भी,
चयंति=मृत्यु पाते है,
माणवा=मनुष्य,
सेणे=बाज पक्षी,
जह=जिस प्रकार,
वट्टयं=तीतर पक्षी को,
हरे=हरण करता है,
एवं=उसी प्रकार,
माउ-खयंमि=आयुष्य का क्षय होने पर,
तुट्टइ=यमराज उठा लेता है, तुष्ट होता है ।

अर्थ : देखो ! बाल, वृद्ध और गर्भ में रहे मनुष्य भी मृत्यु पा जाते हैं । जिस प्रकार बाज पक्षी तीतर पक्षी का हरण कर लेता है, उसी प्रकार आयुष्य का क्षय होने पर यमदेव जीव को उठा ले जाता है ।

विवेचन : संसार में हर जीव का अपना अलग अलग आयुष्य होता है । जब तक आयुष्य है, तभी तक जीव जीवन धारण कर सकता है ।

जिस प्रकार दीपक में से तैल समाप्त होते ही दीपक बुझने की तैयारी करता है, उसी प्रकार आयुष्य का तैल समाप्त होते ही जीव मरने की तैयारी करता है । मौत जब करीब आ जाती है, तब जीवात्मा को बचानेवाला कोई नहीं होता है । मौत आने पर लाख-लाख कोशिश करने पर भी जीव बच नहीं सकता है ।

चाहे जितने शक्ति के इंजेक्शन ले या चाहे जितने सुरक्षा के साधन उपलब्ध कराए, परंतु मौत आने पर, किसी की भी ताकत नहीं है कि वह मौत से जीव को बचा सके ।

एक ही नदी में व्यक्ति दूसरी बार स्नान नहीं कर सकता हैं, क्योंकि स्नान करते समय नदी में जो पानी था, वह तो तीव्र प्रवाह में कहीं दूर चला गया होता है । बस, इसी प्रकार नदी के जल प्रवाह की भांति आयुष्य भी निरंतर बह रहा है । अर्थात् कम हो रहा है, अत: थोडा भी प्रमाद करने जैसा नहीं है । जो प्रमाद के वशीभूत हुए, उन्होंने अपनी आत्मा का अनंत संसार खडा कर दिया । प्रमाद तो आत्मा का भयंकर शत्रु है, अत: थोडा भी प्रमाद करने जैसा नहीं है । जो प्रमाद के वशीभूत हुए, उन्होंने अपनी आत्मा का अनंत संसार खडा कर दिया । प्रमाद तो आत्मा का भयंकर शत्रु है, अत: उससे सावधान रहकर अप्रमत्त भाव से आराधना करने में ही अपना वास्तविक हित है ।

तिहुयण-जणं मरंतं, दट्ठूण नयंति जे न अप्पाणं ।
विरमंति न पावाओ, धी धी धिट्ठत्तणं ताणं ।।75।।

शब्दार्थ

तिहुयण=तीनो भुवन के,	**विरमंति**=विराम पाता है,
जणं=जीवों को, **मरंतं**=मरते,	**न**=नहीं,
दट्ठूण=देखकर,	**पावाओ**=पाप से,
नयंति=जोडता है,	**धी धी**=धिक्कार हो,
जे न=जो नहीं,	**धिट्ठत्तणं**=धृष्टता को,
अप्पाणं=अपनी आत्मा को,	**ताणं**=उसकी ।

अर्थ : तीनों भुवन में जीवों को मरते हुए देखकर भी जो व्यक्ति अपनी आत्मा को धर्ममार्ग में जोड़ता नहीं है और पाप से रुकता नहीं है, वास्तव में उसकी धृष्टता को धिक्कार हो !

विवेचन : जिस आत्मा के विवेक रूपी चक्षु उघड़े हुए हों, उस आत्मा को दुनिया की हर घटना सबक सिखाती है ।

रोग, वृद्धावस्था और अकालमृत्यु की घटना वैराग्य का प्रबल निमित्त है ।

मनुष्य क्षेत्र में इस पंचमकाल में अकालमृत्यु की घटनाएँ आए दिन देखने-सुनने को मिलती हैं । इस जीवन में प्रयत्न और पुरुषार्थ करके जो कुछ भी प्राप्त किया हो, मृत्यु द्वारा वह सारा संबंध एक क्षण में नष्ट हो जाता है । इससे प्रबल वैराग्य का निमित्त और क्या हो सकता है ?

चौदह राजलोक में रहे जीव मृत्यु के अधीन हैं अर्थात् सभी जीवों पर मृत्यु का एकछत्री शासन है । कोई भी संसारी जीव मृत्यु के जाल से बच नहीं सकता है ।

जीवन की क्षण भंगुरता को जानकर भी जो धर्म में उद्यमशील नहीं बनता हो और पाप से विराम नहीं पाता हो, वह व्यक्ति धिक्कार का ही पात्र है ।

व्यक्ति जिस काम के लिए घर से निकला हो और वह काम पूरा किए बिना ही घर लौट आता हो तो उस व्यक्ति को मुर्ख ही कहा जाता है ।

हे जीव ! जरा सोच, यह जीवन तो तुझे आत्म साधना के लिए ही मिला है । दुनिया की मौज-मजाएं तो अन्य-अन्य भवों में खूब खूब की है, अब प्रमाद द्वारा इस भव को व्यर्थ गुमाना नहीं है । भूतकाल में हुई भूलों का इस जीवन में पुनरावर्तन करने की आवश्यकता नहीं है ।

मा मा जंपह बहुअं, जे बद्धा चिक्कणेहिं कम्मेहिं ।
सव्वेसिं तेसिं जायइ, हियो-वएसो महा-दोसो ।।76।।

शब्दार्थ

मा मा=नहीं,
जंपह=उपदेश दे,
बहुअं=बहुत,
जे=जो,
बद्धा=बंधे हुए है,
चिक्कणेहिं=गाढ़, चिकने,
कम्मेहिं=कर्मो से,
सव्वेसिं=सारा,
तेसिं=उनको दिया,
जायइ=जाता है,
हियो-वएसो=हितोपदेश,
महा-दोसो=महादोष, महाद्वेष में ।

अर्थ : गाढ़ कर्मों से जो बंधे हुए हैं, उन्हें ज्यादा उपदेश न दें, क्योंकि उनको दिया गया हितोपदेश महाद्वेष में परिणत होता है ।

विवेचन : धर्म का हितकारी उपदेश भी योग्य आत्माओं को ही लाभकारी होता है, परंतु जो अयोग्य और अपात्र आत्माएँ हैं, जो ज्ञानावरणीय आदि गाढ़ कर्मों के बंधन से ग्रस्त हैं, उन्हें उपदेश देने का कोई अर्थ नहीं है ।

जिस प्रकार कच्चे घड़े में पानी भरा जाय तो कुछ समय के बाद में घड़े का भी नाश होता है और उसमें भरे हुए पानी का भी नाश होता है; उसी प्रकार मुर्ख व्यक्ति को उपदेश देने पर न तो उस मूर्ख व्यक्ति को कुछ फायदा होता है और न ही उपदेशक को कुछ लाभ होता है । वह उपदेश व्यर्थ ही जाता है ।

नीतिशास्त्र में भी कहा है- ***'मूर्ख व्यक्ति को दिया गया उपदेश सिर्फ उस व्यक्ति के क्रोध के लिए ही होता है । जिस प्रकार साँप को दूध पिलाया जाय तो सिर्फ विष की ही वृद्धि होती है ।'***

जिस व्यक्ति के जीवन में विनय, विवेक और नम्रता होती है, उसी व्यक्ति को दिया गया उपदेश लाभ का कारण बनता है ।

प्रभु का उपदेश एकांत हितकारी हैं, परंतु वह उपदेश भी योग्य व्यक्ति को ही पसंद पडता है । अयोग्य और अपात्र व्यक्ति को तो हितकारी भी उपदेश लाभ के बदले नुकसान का ही कारण बनता है । उसमें उपदेश का दोष नहीं है । उस व्यक्ति की अयोग्यता-अपात्रता का ही दोष है ।

हितोपदेश सुनकर भी जिसको गुस्सा आता हो तो समझ लेना चाहिये कि उसका भाग्य रुठ गया है ।

हितकारी उपदेश तो अमृत तुल्य लगना चाहिये और उसे बडे प्रेम से सुनना चाहिये और शक्ति अनुसार उसका पालन भी करना चाहिये ।

कुणसि ममत्तं धण-सयण-विहव-पमुहेसु-ऽणंत दुक्खेसु ।
सिढिलेसि आयरं पुण, अणंत-सुक्खंमि मुक्खंमि ॥77॥

शब्दार्थ

कुणसि=करता है, **ममत्तं**=ममत्व, **धण**=धन, **सयण**=स्वजन, **विहव**=वैभव, **पमुहेसु**=आदि में, **अणंत**=अनंत, **दुक्खेसु**=दु:ख, **सिढिलेसि**=शिथिल करता है, **आयरं**=आदर भाव को, **पुण**=वापस, **अणंत**=अनंत, **सुक्खंमि**=सुख स्वरुप, **मुक्खंमि**=मोक्ष में ।

अर्थ : अनंत दु:ख के कारण रूप धन, स्वजन और वैभव आदि में तू ममता करता है और अनंत सुख स्वरूप मोक्ष में अपने आदर भाव को शिथिल करता है ।

विवेचन : अनादि काल से आत्मा में धन, स्वजन, पुत्र-परिवार और भौतिक वैभव के प्रति गाढ़ ममता रही हुई है । उस ममता के कारण आत्मा भयंकर पापकर्मों का बंध करती है और पाप कर्मों के उदय के फल-स्वरूप इस संसार में भयंकर दु:खों को भोगना पड़ता है ।

पाप का विपाक अत्यंत ही भयंकर है । नरक तिर्यंच आदि दुर्गतियों में जितने भी दु:ख भोगने पड़ते हैं, उन सबका मूल पाप का सेवन ही है । यद्यपि संसारी आत्मा को दु:ख लेश भी पसंद नहीं है, वह सदैव सुख की ही इच्छा करती है, परंतु पाप के उदय के कारण जीवन में दु:ख आते ही हैं । सारा संसार इन दु:खों से भरा हुआ है ।

संसार से विपरीत मोक्ष है । मोक्ष में अनंत सुख है अर्थात् उस सुख का कहीं अंत नहीं है । मोक्ष में दु:ख का नामोनिशान नहीं है, फिर भी आश्चर्य है कि मोह के अधीन बनी आत्माओं को संसार के सुख भोग में जितना रस है, उतना रस मोक्ष और मोक्ष के साधनों में नहीं है । संसारवर्धक प्रवृत्ति वह मजे से करती है और मोक्ष की प्रवृत्ति में उसे थोड़ा भी रस नहीं है ।

◆ धन की ममता के गाढ़ बंधन में बँधा हुआ मम्मण सेठ रात और दिन अर्थार्जन में ही डूबा रहता था । भयंकर वर्षा ऋतु में नदी में आई बाढ़ की उपेक्षा करके भी एक मात्र धन की आसक्ति के कारण मौत की भी परवाह किए बिना नदी में बहकर आते हुए चंदन के टुकड़ों को नदी तट पर लाने की मेहनत करता था । धन की ममता में वह सब कुछ भूला हुआ था । उसे न तो सांसारिक सुख के उपभोग की चिंता थी और न ही किसी का उपकार करने की वृत्ति थी ।

संसारो दुहहेऊ, दुक्खफलो दुसह-दुक्खरूवो य ।
न चयंति तं पि जीवा, अइबद्धा नेहनिअलेहिं ।।78।।

शब्दार्थ

संसारो=यह संसार,	**य**=और,
दुहहेऊ=दु:ख का कारण है,	**न चयंति**=छोडते नहीं है,
दुक्खफलो=दु:ख का फल है,	**तं पि जीवा**=फिर भी जीव,
दुसह=सहन न किया जा सके ऐसा,	**अइबद्धा**=अति गाढ़ बंधन से बंधे,
दुक्खरूवो=दु:खोंवाला है,	**नेहनिअलेहिं**=स्नेह रुपी साँकल से ।

अर्थ: जो दु:ख का कारण है, दु:ख का फल है और जो अत्यंत दु:सह ऐसे दुखोंवाला है, ऐसे संसार को, स्नेह की साँकल से बँधे हुए जीव छोड़ते नहीं हैं ।

विवेचन : यह संसार असह्य दु:ख के स्वभाववाला है । मनुष्य लोक में मनुष्य-तिर्यंचों को जितनी पीड़ा है, उस सारी पीड़ा को पिंडीभूत किया जाय तो उससे अनंतगुणी पीड़ा पहली नरक में है । उससे अनंतगुणी पीड़ा दूसरी नरक में है । इस प्रकार सातवीं नरक के जीवों को जो पीड़ा है, उसका वर्णन वाणी द्वारा नहीं हो सकता है ।

नरक के जीवों को व्यक्त पीड़ा है, जब कि निगोद में रहे जीवों को नरक से भी अनंत गुणी अव्यक्त पीड़ा है । तिर्यंच गति के दु:खों का भी कोई पार नहीं है । भूख, प्यास और पराधीनता से अधिकांश तिर्यंच दु:खी-दु:खी होते हैं ।

मानव भव में भी सुखी कम और दु:खी बहुत अधिक हैं । शारीरिक, आर्थिक, मानसिक एवं पारिवारिक पीड़ाओं से अधिकांश मानव दु:खी दु:खी हैं ।

देवलोक में रहे देवता भी ईर्ष्या व लोभ के कारण दु:खी हैं । दीर्घकाल तक रहा उनका भौतिक सुख भी आयुष्य की पूर्णाहुति के साथ क्षीण हो जाता है । अपनी भावी दुर्गति तिर्यंचगति को जानकर उनकी भी हालत बहुत खराब हो जाती है ।

इस प्रकार यह सारा संसार असह्य दु:खों से भरा हुआ है ।

फिर भी आश्चर्य है कि ब्रह्मदत्त आदि की तरह स्नेह के तंतु से बँधे हुए जीव इस संसार का त्याग करने में सर्वथा असमर्थ ही होते हैं ।

संसार का स्वरुप समझाते हुए, **'पंच सूत्र'** में भी कहा है कि यह संसार **'दुक्खरुवे, दुक्खफले, दुक्खाणुबंधे'** अर्थात् यह पूरा संसार ही दु:ख रुप हैं, दु:ख के फल को देनेवाला है और दु:ख का अनुबंध करानेवाला है ।

नियकम्म-पवण-चलिओ, जीवो संसार-काणणे घोरे ।
का का विडंबणाओ, न पावए दुसह-दुक्खाओ ।।79।।

शब्दार्थ

नियकम्म=अपने कर्म रुपी,	**घोरे**=घोर,
पवण=पवन से,	**का का**=कौन कौन सी,
चलिओ=चलित बना है,	**विडंबणाओ**=विडंबनाओं को,
जीवो=यह जीव,	**न पावए**=नहीं प्राप्त करता है,
संसार-काणणे=संसार रुपी जंगल में,	**दुसह**=असह्य,
	दुक्खाओ=वेदनाओं से युक्त ।

अर्थ : अपने कर्म रूपी पवन से चलित बना हुआ यह जीव इस संसार रूपी घोर जंगल में असह्य वेदनाओं से युक्त कौन कौनसी विडंबनाओं को प्राप्त नहीं करता है ।

विवेचन : अनंत दु:खमय इस संसार की भयंकरता को समझाने के लिए ज्ञानी महापुरुषों ने इस संसार को अनेक उपमाएँ प्रदान की हैं । यह संसार सागर जैसा है, श्मशान जैसा है, कत्लखाने जैसा है तो इस गाथा में संसार को भयंकर जंगल की उपमा दी है ।

जिस प्रकार आग जलाने का काम करती है, पानी गलाने का काम करता है तो पवन उड़ाने का काम करता है । जब भयंकर आंधी आती है तो कई वृक्ष धराशायी हो जाते हैं, कई झोंपड़े नष्ट हो जाते हैं ।

कर्म रूपी पवन से प्रेरित हुआ जीव इस संसार में नाना प्रकार की विडंबनाओं को प्राप्त करता है ।

इस संसार में जीव की विडंबनाओं का कोई पार नहीं है । इस संसार में अजन्मा ऐसी आत्मा को जन्म धारण करना पड़ता है । अमर ऐसी आत्मा की श्मशान यात्रा निकलती है । अजर ऐसी आत्मा को वृद्धावस्था की पीड़ाएँ सहन करनी पड़ती हैं ।

फूटबॉल के मैच में मैदान में 22 खिलाडी होते हैं, परंतु फूटबॉल तो एक ही होता हैं, वह फूटबॉल जिसके पास जाता हैं, वह kik ही लगता है । मैदान में वह फूटबॉल इधर से उधर भटकता रहता है । बस, चौदह राजलोक रुप संसार में भी जीवात्मा की यही हालत है । वह जहां-तहां भटकता है और मार खाता रहता है । अपनी आत्मा ने अनंतकाल तक यह मार खाई है, फिर भी आश्चर्य है कि उस मार से मुक्त होने के लिए जो पुरुषार्थ होना चाहिये, वह नहीं हो पा रहा है ।

सिसिरंमि सीयलानिल-लहरि-सहस्सेहि भिन्न-घणदेहो ।
तिरियत्तणंमि रण्णे, अणंतसो निहण-मणुपत्तो ॥80॥

शब्दार्थ

सिसिरंमि=ठंडी की ऋतु में,
सीयलानिल=ठंडी हवा की,
लहरि-सहस्सेहि=हजारो लहरो के द्वारा,
भिन्न=भेदा गया है,
घणदेहो=तेरा पुष्ट देह,
तिरियत्तणंमि=तिर्यंच के भव में,
रण्णे=रण में,
अणंतसो=अनंतबार,
निहण=मृत्यु को,
मणुपत्तो=प्राप्त हुआ है ।

अर्थ : हे आत्मन् ! तिर्यंच के भव में ठंडी ऋतु में ठंडी लहरियों से तेरा पुष्ट देह भेदा गया और तू अनंतबार मरा है ।

विवेचन : इस संसार में तिर्यंच के भवों में इस जीव ने अनेक प्रकार की वेदनाएँ सहन की है ।

ठंडी के दिनों में जब पवन की ठंडी लहरें चलती हैं, तब मनुष्य उस ठंडी के रक्षण के लिए अपने घर के द्वार बंद कर देता है, गर्म कंबल आदि ओढ़ लेता है, परंतु तिर्यंच गति में रहे पशु-पक्षियों के पास ठंडी से बचने के लिए क्या साधन हैं ! न तो उनके पास रहने के लिए घर होता है और न ही ओढ़ने के लिए गर्म वस्त्र आदि ।

भयंकर ठंड और शीत लहरों से वे पशु-पक्षी काँपते रहते हैं...ठंड की भयंकर वेदना को पराधीन अवस्था में मजबूरी से सहन करते हैं और अंत में करुण मौत से मर भी जाते हैं । उस समय उनका रक्षण करनेवाला कोई नहीं होता है ।

पशु-पंखी शरीर से कितने ही बलवान क्यों न हो ! कई पंखी आकाश में उड सकते है तो कई प्राणी जल में तैर सकते है, परंतु उन पशुओं के पास अपने सुख-दु:ख या अपनी व्यथा को अभिव्यक्त करने के लिए व्यक्त वाणी नहीं है । वे मुक होकर पराधीन अवस्था में सब कुछ सहन करते है । बस, भूतकाल में तिर्यंचों के भवों ने अपनी आत्मा ने जो सहन किया हैं, उसे याद कर, वर्तमान जीवन में आनेवाले कष्टों को सहन करने के लिए उद्यमशील बनना चाहिये । साधना मार्ग में आए कष्टों को देखकर उनसे पीछे नहीं हटना चाहिये । उनमें हंसते मुंह रखकर कर्म को खपाना चाहिये । दु:ख को प्रसन्नता पूर्वक सहन करने से दु:ख बढता नहीं है, बल्कि घट जाता है । आत्मा जल्दी ही कर्म से मुक्त हो जाती है ।

गिम्हायव-संतत्तो, रण्णे छुहिओ पिवासिओ बहुसो ।
संपत्तो तिरियभवे, मरणदुहं बहु विसूरंतो ।।81।।

शब्दार्थ

गिम्हायव-संतत्तो=ग्रीष्म आतप से संतप्त होकर,
रण्णे=रण में,
छुहिओ=भूखा,
पिवासिओ=प्यासा,
बहुसो=बहुत बार,
संपत्तो=प्राप्त किया है,
तिरियभवे=तिर्यंच भव में,
मरणदुहं=मरण के दु:ख को,
बहु=बहुत, अनेकबार,
विसूरंतो=संतप्त होकर ।

अर्थ : इस आत्मा ने तिर्यंच के भव में भयंकर जंगल में ग्रीष्म ऋतु के ताप से अत्यंत ही संतप्त होकर अनेक बार भूख और प्यास की वेदना से दु:खी होकर मरण के दु:ख को प्राप्त किया है ।

विवेचन : वैशाख और ज्येष्ठ मास में जब सूर्य आग के गोले की तरह तपता है, तब उस गर्मी से रक्षण के लिए मनुष्य तो घर में आकर, वृक्ष के नीचे बैठकर, ठंडे जल से स्नान कर, पंखे A.C. कूलर आदि का सेवन कर अपने आपको गर्मी के भयंकर ताप से बचा लेता है, परंतु ऐसी भयंकर गर्मी में तिर्यंचों की क्या हालत होती है ?

भयंकर ताप के कारण वे भूख ओर प्यास से अत्यंत संतप्त हो जाते हैं । भूख के कारण उनकी वेदना का कोई पार नहीं रहता है, परंतु उन्हें वहाँ घास-चारा या अनाज का दाना देनेवाला कोई नहीं होता है ।

भयंकर दुष्काल आदि के प्रसंगों में भी जब नदी, तालाब और झरणें सूख जाते हैं, तब उन जंगली प्राणियों को पीने के लिए पानी कहीं से भी नसीब नहीं होता है । ऐसे संयोगों में उनकी तृषा की वेदना का कोई पार नहीं होता है, परंतु उस वेदना में उनका सहभागी बननेवला कोई नहीं होता है ।

तिर्यंचों के भव में भूख-प्यास की वेदना बहुत सहन की हैं, परंतु वहां इच्छापूर्वक सहन किया हुआ नहीं होने से एक मात्र अकाम निर्जरा होता है ।

हे जीव ! इस भव में तुझे मानव देह मिला है । तत्त्व-अतत्त्व को समझने के लिए सच्ची दृष्टि मिली है । अब यदि तू भूख-प्यास के कष्टों को इच्छापूर्वक सहन करेगा तो तुझे सकाम निर्जरा ही होगी । इस निर्जरा द्वारा तू जल्दी ही कर्म के बंधन से मुक्त हो जाएगा । कर्म का बंधन टूट गया तो आत्मा को बांधनेवाला अन्य कोई नहीं रहेगा ।

वासासुऽरण्णमज्झे, गिरि-निज्झरणो-दगेहि वज्झंतो ।
सीआनिल-डज्झविओ, मओसि तिरियत्तणे बहुसो ।।82।।

शब्दार्थ

वासासु=वर्षा ऋतु में,
अरण्णमज्झे=जंगल में,
गिरि-निज्झरणो-दगेहि=पर्वत के झरणो से बहते पानी के प्रवाह में,
वज्झंतो=बहते हुए,
सीआनिल=ठंडी हवा से,
डज्झविओ=कांपते हुए,
मओसि=बे मौत मरा है,
तिरियत्तणे=तिर्यंच के भव में
बहुसो=बहुत बार ।

अर्थ : तिर्यंच के भव में जंगल में वर्षा ऋतु में झरणे के जल के प्रवाह में बहते हुए तथा ठंडे पवन से संतप्त होकर अनेक बार बेमौत मरा है ।

विवेचन : वर्षा ऋतु में जब चारों ओर जोरों से पानी बरसता है, तब पर्वत पर से पानी के झरणे बहते रहते हैं, उस पानी के तीव्र प्रवाह में कई छोटे-बड़े प्राणी बह जाते हैं और अकाल में मौत के शिकार हो जाते है । हे आत्मन् ! तिर्यंच के पशु-पक्षी के भवों में तू इस प्रकार बहुत बार मरा है ।

परंतु आश्चर्य है कि एक भव बदलने के बाद आत्मा अपने पूर्व भव को भूल जाती है । पूर्वभव में पराधीन अवस्था में जो कुछ सहन किया, वह सब विस्मृत हो जाने के कारण, इस भव में धर्म के नाम पर थोडा भी सहन करने की बात आती है, वह आत्मा को कुछ अधिक ही लगता है । साधु जीवन में ठंडी-गर्मी के परिषह खडे होते हैं, और यह जीव बहाना निकालता है-'यह ठंडी तो मुझ से सहन नहीं होती है ।' ओहो ! इतनी गर्मी मैं कैसे सहन कर पाऊंगा ?' परंतु अपने पूर्व भव का विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि ये कष्ट तो अपनी आत्मा ने अनेक बार सहन किए है ।

आज पूर्व भव की वेदना भले ही याद न हो परंतु ज्ञानियों के वचन पर श्रद्धा रखकर वर्तमान के कष्टों को समतापूर्वक सहन करने में ही लाभ है ।

वर्षा ऋतु में जब ठंडी-ठंडी हवाएं चलती हैं तब भयंकर ठंडी का भी अनुभव होता है । उसे शीत परिषह कहा जाता है । साधु जीवन में इस परिषह को समतापूर्वक सहन किया जाय तो अपूर्व कर्म निर्जरा हो सकती है । परंतु अनादि काल से आत्मा में सुख का राग और दु:ख का द्वेष रहा हुआ होने से वे संस्कार पुन: पुन: जागृत हो जाते है । अनादि के उन संस्कारों को तोडने की आवश्यकता है । इस जीवन में कदाचित् वे सारे संस्कारों संपूर्ण न भी टूटे तो भी उनको तोडने का पुरुषार्थ जारी ही रखना चाहिये ।

एवं तिरिय-भवेसु, कीसंतो दुक्ख-सय-सहस्सेहिं ।
वसिओ अणंत-खुत्तो, जीवो भीसण-भवारण्णे ।।83।।

शब्दार्थ

एवं=इस प्रकार,	**वसिओ**=रहा है,
तिरिय-भवेसु=तिर्यंच भवो में,	**अणंत-खुत्तो**=अनंत बार,
कीसंतो=क्लेश पाता हुआ,	**जीवो**=यह जीव,
दुक्ख-सय-सहस्सेहिं=लाखों दु:खों के द्वारा	**भीसण-भवारण्णे**=भयंकर संसार रुपी जंगल में ।

अर्थ : इस प्रकार इस संसार रूपी जंगल में हजारों लाखों प्रकार के दु:खों से पीड़ित होकर तिर्यंच के भव में अनंत बार रहा है ।

विवेचन : तिर्यंच गति में दु:खों का पार नहीं है। भूख, प्यास, ठंडी, गर्मी, छेदन-भेदन आदि के दु:ख कदम-कदम पर सहन करने पड़ते हैं ।

तिर्यंच के भवों में दु:ख का पार नहीं है । कितनी ही ठंडी गिरती हो, उनके पास ओढने के लिए वस्त्र नहीं । तापने के लिए अग्नि नहीं है । न ही वे अपनी इस वेदना को अपने मालिक के पास व्यक्त कर सकते है ।

बैल खूंटे से बंधा हुआ हो और थोडी ही दूरी पर घास पडा हो, फिर भी वह बैल इधर-उधर जा रहे किसी व्यक्ति को यह कह नहीं पाता है कि दूर रहे घास को नजदीक ले आओ ।' घास पास में पडा होने पर भी वह बैल वैसे ही भूखा रह जाता है ।

पास में ही बाल्टी में पानी पडा हो, परंतु गाय या भैंस खूंटे से बंधी हो तो पानी पास में होने पर भी वह प्यासी रह जाती है ।

भयंकर ठंडी में ठिठुरते हुए पशुओं को तो आपने देखा ही होगा ! भयंकर गर्मी के ताप से संतप्त पशुओं की कैसी दयनीय स्थिति है !

उनका शरीर रोग ग्रस्त हो तो भी वे अपने हृदय की वेदना किसी के आगे व्यक्त नहीं कर पाते है । यह उनकी कैसी करुण स्थिति है !

हे जीव ! तिर्यंच के भवों में वे सारे कष्ट तुमने पराधीन अवस्था में सहन किए है । परंतु उससे एक मात्र अकाम निर्जरा हुई है, क्योंकि दु:ख सहन करने की इच्छा नहीं थी, सिर्फ मजबूरी थी ! मजबूरी या पराधीनता से हम बहुत कुछ सहन करे तो निर्जरा तो अल्प ही होनेवाली है, इस जीवन में इच्छापूर्वक कष्ट सहन करने का अभ्यास करना चाहिये ।

दुट्ठट्ठकम्म-पलया-निलपेरिउ भीसणंमि भवरण्णे ।
हिंडंतो नरएसु वि, अणंतसो जीव ! पत्तोसि ॥84॥

शब्दार्थ

दुट्ठट्ठकम्म-पलय=दुष्ट आठ कर्म रुपी प्रलय के,	**हिंडंतो**=भटकता हुआ,
अनिलपेरिउ=पवन से प्रेरित,	**नरएसु वि**=नरक गति में भी तू,
भीसणंमि=भयंकर,	**अणंतसो**=अनंत बार,
भवरण्णे=संसार रुपी जंगल में,	**जीव !**=हे जीव !,
	पत्तोसि=गया है ।

अर्थ : हे जीव ! दुष्ट ऐसे आठ कर्म रूपी प्रलय के पवन से प्रेरित होकर इस भयंकर जंगल में भटकता हुआ तू अनंत बार नरकगति में भी गया है ।

विवेचन : तारक तीर्थंकर परमात्मा अपने केवलज्ञान के बल से नरक के जीवों की भयंकर यातनाओं को प्रत्यक्ष देखते हैं, जानते हैं, परंतु वे भी उन जीवों की पीड़ाओं का साक्षात् वर्णन करने में समर्थ नहीं हैं ।

अशुभ-परिणाम : नरक में पुद्गलों का परिणमन अत्यंत ही अशुभ होता है ।

1) बंधन :- शरीर के साथ संबंध में आनेवाले पुद्गल अत्यंत अशुभ होते है ।

2) गति :- नरक के जीवों को अप्रशस्त विहायोगति नामकर्म का उदय होने से उनकी चाल ऊँट आदि की तरह अप्रशस्त होती है ।

3) संस्थान :- नारक जीवों की आकृति तथा भूमि की रचना अत्यंत उद्वेगकारक होती है ।

4) भेद :- शरीर में से निकलने वाले पुद्गल अत्यंत अशुभ होते है ।

5) वर्ण :- सर्वत्र अंधकार छाया रहता है, तल भाग भी श्लेष्म आदि की तरह अत्यंत ही अशुचि पदार्थों से लिप्त होता है ।

6) गंध :- नरक की भूमि में सर्वत्र मल-मूत्र-मांस आदि जैसी तीव्र दुर्गंध होती है ।

7) रस :- नरक के पदार्थों का रस नीम से भी अधिक कड़वा होता है ।

8) स्पर्श :- नरक के पदार्थों का स्पर्श अत्यंत उष्ण और बिच्छु के डंक से भी अधिक पीड़ाकारक होता है ।

9) अगुरुलघु :- शरीर का अगुरुलघु परिणाम भी अनिष्टदायी होता है ।

10) शब्द :- `बचाओ ! बचाओ !' आदि करुण शब्द सर्वत्र सुनाई देते हैं ।

♦ **अशुभ देह :-** वैक्रिय वर्गणा के पुद्गलों से बना हुआ होने पर भी नरक के जीवों का शरीर देवताओं की तरह सुंदर नहीं होता है, बल्कि अत्यंत ही खराब होता है । नरक के जीवों का हुंडक संस्थान होता है । उनके शरीर का वर्ण अतिशय श्याम व भय उत्पन्न करने वाला होता है ।

♦ **क्षुधावेदना :-** जगत् में रहे समस्त अनाज खा ले, घी-दूध आदि का पान कर दे तो भी क्षुधा शांत न हो, इससे भी अधिक क्षुधा नरक के जीवों को होती है ।

♦ **तृषा वेदना :-** जगत् के सभी समुद्रों को पी जाय तो भी तृषा शांत न हो...उससे भी अधिक तृषा नरक के जीवों को होती है ।

♦ **खुजली की पीड़ा :-** छुरी आदि से खुजलाने पर भी शांत न हो, ऐसी खुजली की पीड़ा नरक के जीवों को सतत रहती है ।

♦ **ज्वर :-** मनुष्य को होनेवाले ज्वर से अनंतगुणा ज्वर उन्हें जीवनपर्यंत रहता है ।

♦ **पराधीनता :-** नरक के जीवों को सतत परमाधामी आदि के अधीन रहना पड़ता है ।

♦ **दाह :-** नरक के जीवों के शरीर में भयंकर दाह सदैव रहता है ।

♦ **भय :-** अवधिज्ञान या विभंगज्ञान द्वारा आगामी दु:ख को देखने के कारण नरक के जीव सतत भयभीत रहते हैं ।

♦ **शोक :-** दु:ख, भय आदि के कारण सतत शोकातुर रहते हैं ।

♦ **अशुभ विक्रिया :-** अशुभ नामकर्म का उदय होने से नरक के जीव जो उत्तर वैक्रिय शरीर बनाते हैं, वह अशुभ ही बनता है ।

7वीं नरक में रहे जीवों की अतितीव्र कृष्णलेश्या होती है । सातवीं नरक से निकला हुआ जीव सम्यग्दर्शन पा सकता है । गाढ़ अंधकार की प्रधानता होने से इस पृथ्वी को महातम: प्रभा कहते है ।

सत्तसु नरय-महीसु, वज्जानलदाह सीअविअणासु ।
वसिओ अणंतखुत्तो, विलंवतो करुणसद्देहिं ।।85।।

शब्दार्थ

सत्तसु=सातों, **नरय-महीसु**=नरक की पृथ्वी में, **वज्जानल**=वज्र की आग के, **दाह**=दाह की पीड़ा, **सीअविअणासु**=शीत वेदना में, **वसिओ**=रहा है, **अणंतखुत्तो**=अनंत बार, **विलंवतो**=विलाप करता हुआ, **करुणसद्देहिं**=करुण शब्दों के द्वारा ।

अर्थ : जहाँ वज्र की आग के समान दाह की पीड़ा है और भयंकर असह्य शीतवेदना है, ऐसी सातों नरक पृथ्वीयों में भी करुण शब्दों से विलाप करता हुआ अनंत बार रहा है ।

1) क्षेत्र कृत वेदना :- 7 नरकावासों में ज्यों ज्यों नीचे जाते हैं त्यों-त्यों चारों ओर अत्यंत ही गाढ़ अंधकार होता जाता है । श्लेष्म, मल-मूत्र, खून, मांस, चर्बी आदि जैसे स्वाभाविक अशुभ पृथ्वी के परिणामों से नरकावास की भूमि व्याप्त होती है । श्मशान की भूमि में रहे हड्डी, मांस, दांत, चमड़े आदि के ढेर की तरह सर्वत्र भयंकर दुर्गंध रही होती है । वास्तव में, नरक में हड्डी, मांस आदि अशुभ पदार्थों के ढेर तो नहीं होते हैं, परंतु उस पृथ्वी पर रही अशुचि व दुर्गंधपूर्ण वातावरण को समझाने के लिए ये उपमाएँ दी गई है । अर्थात् उन पृथ्वियों पर स्वाभाविक ही इस तरह का वातावरण होता है ।

मरे हुए कुत्ते, सियार, सांप, नेवले, हाथी, घोड़े व मनुष्य के मुर्दों की तरह सर्वत्र दुर्गंध फैली हुई होती है । भयंकर वेदना के कारण नरक के जीव सतत चिल्लाते रहते हैं...भयंकर करुण विलाप करते हैं...करुण चीत्कार करते हैं ।

नरक के जीवों के शरीर, शरीर के अवयव, आकर, रुप, रस, गंध, स्वाद आदि अत्यंत खराब होते हैं । उन्हें देखते ही घृणा पैदा होती है । अत्यंत दयनीय उनकी शरीर रचना होती है । उनके शरीर के सभी अवयव बेडौल होते हैं ।

2) नरक में उष्ण वेदना :- ज्येष्ठ मास की गर्मी के दिनों में रेगिस्तान की मरुभूमि में चारों ओर लू (गर्म हवा) चल रही हो, आकाश में एक भी बादल न हो, मध्याह्न का सूर्य आग बरसा रहा हो, चारों ओर अग्नि प्रज्वलित हो, ऐसी स्थिति में पित्त प्रकृति वाले मनुष्य को जो उष्ण वेदना होती है, उससे अनंतगुणी वेदना नरक में होती है ।

ऐसे नारक जीव को नरक भूमि में से उठाकर टाटा की सुलगती हुई भट्टी के पास भयंकर गर्मी के दिनों में लाकर सुला दिया जाय तो भी उसे गाढ़

निद्रा आ जाती है । इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि नरक में कितनी गाढ़ उष्ण वेदना होती होगी ।

3) नरक में शीत वेदना :- पौष मास की ठंडी के दिनों में हिमालय पर्वत पर, जहाँ चारों ओर बर्फ गिर रहा हो, तीव्रगति से ठंडी-ठंडी हवा चल रही हो, ऐसे ठंडे वातावरण में ठंडी से जिसका पूरा शरीर कँप रहा हो, ऐसे कमजोर मनुष्य को खुले बदन रखा जाय और जिस शीत-वेदना का अनुभव होता है, उससे अनंतगुणी शीतवेदना नरक में होती है ।

नरक में शीत वेदना सहन कर रहे नारक जीव को नरक में से उठाकर पौष मास में बर्फ गिरते हुए हिमालय पर्वत पर खुले शरीर सुला दिया जाय तो उसे तत्काल नींद आ सकती है, इससे हम अनुमान कर सकते हैं कि नरक में कितनी भयंकर शीत वेदना होती होगी !

पहली, दूसरी व तीसरी नरक में अत्यंत उष्ण वेदना होती है ।

चौथी नरक में अधिकांश नारकों को उष्ण वेदना व कुछ को शीत वेदना होती है । पाँचवी नरक में अधिकांश नारकों को शीत वेदना तथा कुछ को उष्ण वेदना होती है । छठी-सातवीं नरक में सिर्फ शीत वेदना होती है ।

परमाधार्मिक कृत पीड़ा

भुवनपति निकाय में 15 परमाधार्मिक देव हैं । ये देव अत्यंत अधर्मी होने से परमाधार्मिक कहलाते हैं । ये अत्यंत पापी और निर्दयी होते हैं । पूर्व भव में पंचाग्नि तप आदि के प्रभाव से उन्हें देवलोक की प्राप्ति हुई होती है । ये देवता पहली तीन नरक के नारकों को भयंकर कष्ट देते हैं, कष्ट देने में ही इन्हें अत्यंत आनंद आता है ।

परमाधार्मिक देवता भव्य जीव होते हैं । वे मरकर अंडगोलिक नामक जलमनुष्य बनते हैं । उनके अंडगोलो को लेने के लिए उन्हें पकड़ा जाता है और वज्र की घंटी में छ मास तक पीला जाता है । भयंकर वेदना सहनकर मरकर नरक में जाते हैं और वहाँ पुनः नरक की पीड़ा सहन करते हैं ।

1) अंब :- ये परमाधामी क्रीड़ा द्वारा विविध प्रकार के भय पैदा कर नरक के जीवों को डराते हैं । नारकों को आकाश में उछालते हैं और नीचे गिरते समय वज्रमय भालों से बींधते हैं और मुद्गर से तीव्र प्रहार करते हैं ।

2) अंबर्षि :- ये परमाधामी मूर्च्छित बने नारक जीवों के शरीर के अंगो को काटते हैं और शाक की तरह पकाते हैं ।

3) श्याम :- ये परमाधामी नारक जीवों के अंगों को छेदकर बॉल की तरह उछालते हैं, चाबुक से प्रहार करते है और पैरों से रोंदते हैं ।

4) शबल :- .ये परमाधामी नारक जीवों के पेट आदि को चीरकर उनकी आँखे आदि बाहर निकालकर उन्हें बताते हैं ।

5) रुद्र :- ये परमाधारी दौड़ते हुए आते हैं, तलवार चलाते हैं, त्रिशूल, वज्र आदि से बींधते हैं और आग में डालते हैं ।

6) उपरुद्र :- ये परमाधामी नारक जीवों के शरीर के टुकड़े-टुकड़े करके अत्यंत वेदना उत्पन्न करते हैं ।

7) काल :- ये परमाधामी नारक के जीवों को मछलियों की तरह पकाते हैं ।

8) महाकाल :- ये परमाधामी नारक जीवों के शरीर के मांस को काटकर उन्हीं को खिलाते हैं ।

9) असि :- ये परमाधामी तलवार आदि शस्त्रों द्वारा नरक जीवों के हाथ पैर मस्तक आदि अंगों को काटकर छिन्न-भिन्न कर देते हैं ।

10) पत्रधनु :- ये परमाधामी असिपत्र वन की रचना करते हैं । छाया के अभिलाषी नारक जीव वहाँ जाते हैं । उस समय ये परमाधामी पवन फूंकते हैं । उस समय वृक्ष पर से पत्ते नीचे गिरते हैं और नारक जीवों के हाथ-पैर आदि को काटते हैं, उनमें से खून बहता है ।

11) कुंभ :- ये परमाधामी नारक जीवों को कुंभ आदि में उबलते हुए तैल में भजीए की तरह पकाते है ।

12) वालुका :- ये परमाधामी नारक जीवों को भट्टी की रेती से अनंत-गुणी तपी हुई कदंबवालुका नाम की पृथ्वी में चने की तरह भूंजते हैं ।

13) वैतरणी :- ये परमाधामी वैतरणी नदी की रचना करते हैं, जिसमें उबलते लाक्षारस का तेज प्रवाह बहता है, उसमें चर्बी, खून, हड्डी आदि बहते हैं । इस नदी में उन नारकों को चलाया जाता है और अत्यंत तपी हुई लोहे की नाव में उन नारकों को बिठाते हैं ।

14) खरस्वर :- ये परमाधामी कठोर शब्दों से चिल्लाते हुए आते हैं और नारकों के पास परस्पर चमड़ी उतरवाते हैं और स्वयं नारकों के शरीर को चीरते हैं । तीक्ष्ण काँटों से भरपूर शाल्मली वृक्षों के ऊपर नारकों को पीडा देते हैं ।

15) महाघोष :- ये परमाधामी गगनभेदी आवाज से नारकों को डराते हैं । भय से भागते हुए नारकों को पकड़कर वधस्थान में उन्हें अनेक प्रकार की पीड़ा पहुंचाते हैं । ये परमाधामी नारक जीवों को छेदन-भेदन करके, आग में जलाकर, शिलाओं पर पछाड़कर कष्ट देते हैं, फिर भी वे मरते नहीं हैं, उनके अंगोपांग पुन: जुड़ जाते हैं । मौत को चाहते हुए भी निकाचित आयुष्य का उदय होने के कारण वे प्रहार आदि से मरते नहीं हैं, आयुष्य पूरा होने पर ही मौत होती है ।

नरक के जीव परस्पर लडते रहते है वहां प्रेम नाम की वस्तु नहीं है । क्रोध कषाय की भी तीव्र प्रबलता होती है, अत: उनका जीवन दु:खमय ही होता है ।

पिय माय सयण रहिओ, दुरंत वाहीहिं पीडिओ बहुसो ।
मणुयभवे निस्सारे, विलविओ किं न तं सरसि ।।86।।

शब्दार्थ

पिय=पिता,	**बहुसो**=बहुत बार,
माय=माता,	**मणुयभवे**=मनुष्य भव में,
सयण=स्वजन,	**निस्सारे**=असार ऐसे,
रहिओ=रहित,	**विलविओ**=तू विलाप करता था,
दुरंत=भयंकर,	**किं न**=क्यों नहीं,
वाहीहिं=व्याधि के द्वारा,	**तं**=उसे,
पीडिओ=पीड़ित हुआ,	**सरसि**=तू स्मरण करता है ।

अर्थ : सार रहित ऐसे मानव भव में माता-पिता तथा स्वजन रहित भयंकर व्याधि से अनेक बार पीड़ित हुआ तू विलाप करता था, उसे तू क्यों याद नहीं करता है ?

विवेचन : हे आत्मन् ! इस संसार में परिभ्रमण करते हुए कभी मनुष्य का भव भी मिला । परंतु उस भव में भी तू कई रोगों का शिकार बना । उन रोगों को दीन बनकर सहन किया ।

कई बार माता-पिता, स्वजन आदि का विरह भी हुआ । उस विरह की वेदना से तू खूब आकुल-व्याकुल हुआ । उस समय तेरे दु:ख में सहभागी बनने के लिए कोई भी तैयार नहीं हुआ । उन दु:खों को तूने रोते-रोते सहन किया ।

संसार में भटकते हुए तुमने इन विडंबनाओं को सहन किया है, उन्हें तू याद कर ।

मानव देह के साथ भी अनेक रोग जुड़े हुए है । बोंबे की बोंबे हॉस्पिटल, हरकिसनदास हॉस्पिटल, लीलावती हॉस्पिटल या टाटा की केंसर हॉस्पिटल की एक बार मुलाकात ले ली जाय तो पता चलेगा कि वहां दर्दियों की क्या हालत है । एक्सीडेंट में घायल हुए दर्दियों को देखते हैं, असह्य पीड़ा से आकुल-व्याकुल बने हुए दर्दियों के आक्रंदन को सुनते है तो लगता है साक्षात् नरकागार है ।

यद्यपि नरक के जीवों की पीड़ा के आगे मनुष्य लोक के मनुष्यों की पीड़ा तो उसका अंश मात्र भी नहीं हैं-फिर भी वह पीड़ा असह्य लगती है तो नरक की पीड़ाएँ हम कैसे सहन कर पाएंगे ?

अब यदि नरक में नहीं जाना हो तो जिनाज्ञा से विरुद्ध प्रवृत्तियों से विराम लेना चाहिये । जीवन में पाप ही नहीं होगा तो दु:ख आएगा कहां से ?

पवणुव्व गयण मग्गे, अलक्खिओ भमइ भववणे जीवो ।
ठाणट्ठाणंमि समुज्झिऊण, धण-सयण-संघाए ।।87।।

शब्दार्थ

पवणुव्व=पवन की तरह,	**जीवो**=यह जीव,
गयण मग्गे=आकाश मार्ग में,	**ठाणट्ठाणंमि**=स्थान स्थान में,
अलक्खिओ=अपरिचित बना हुआ,	**समुज्झिऊण**=छोड कर,
भमइ=भ्रमण करता है,	**धण**=धन,
भववणे=भव वन में,	**सयण-संघाए**=स्वजन के समुह को ।

अर्थ : स्थान-स्थान में धन तथा स्वजन के समूह को छोड़कर भव वन में अपरिचित बना हुआ यह जीव आकाश मार्ग में पवन की तरह अदृश्य रहकर भटकता रहता है ।

विवेचन : जन्म के बाद हर जीव अपने जीवन में जीव व जड़ पदार्थों के साथ संबंध जोड़ने का ही काम करता है । लगभग पूरी जिंदगी संबंधों को जोड़ने और जोड़े हुए संबंधों को निभाने में ही पूरी हो जाती है ।

संबंधों को जोड़ने में वर्षों लग जाते है परंतु मृत्यु की एक कैंची घुमती है और उसके साथ ही जिंदगी में जोडे हुए सारे संबंध स्थगित हो जाते है । जैसे डोरी से कटी हुई पतंग आकाश में जहां तहां उड़ती हैं, उसी प्रकार मृत्यु के द्वारा जब व्यक्ति व पदार्थों के साथ रहा संबंध विच्छेद हो जाता है, तब यह आत्मा भी इस चौदह राजलोक के मैदान में कहीं की कहीं भटक जाती है । मरने के बाद यह आत्मा चौदह राजलोक की इस लंबी-चौड़ी दुनियाँ में कहां पैदा हो जाएगी, कुछ भी पता नहीं है ।

अपने अपने कर्म के अनुसार जीवात्मा की गति होती है ।

आत्मा प्रति समय सात कर्मो का बंध करती रहती है, परंतु जीवन में एक ही बार अगले जन्म के आयुष्य का बंध करती है । आयुष्य के बंध समय में आत्मा शुभ भाव में हो तो शुभगति के आयुष्य का बंध करती है और आयुष्य के बंध समय अशुभ भाव में हो तो अशुभ गति के आयुष्य का बंध करती है ।

भवनपति, व्यंतर, ज्योतिष और प्रथम-द्वितीय वैमानिक देवलोक में रहे असंख्य देवता मरकर पृथ्वीकाय, अप्काय और वनस्पतिकाय में चले

जाते हैं और एक बार एकेन्द्रिय में जाने के बाद पुनः ऊपर उठने के Chance कम हो जाते है ।

जैसे पवन अस्थिर है, वह सतत बहता रहता हैं, उसे कहीं भी बांधा नहीं जा सकता हैं, उसी प्रकार मृत्यु के बाद आत्मा भी कहीं बंधी नहीं रहती हैं, वह भी पवन की तरह कहीं की कहीं चली जाती है ।

मृत्यु के द्वारा जब इस भव से आत्मा की विदाई होती है, तब इस जीवन में जिस धन-स्वजन आदि के लिए जो महेनत की थी, उन सबके साथ एक ही क्षण में ही सारे संबंध टूट जाते है और वे टूटे हुए संबंध पुनः जुडते नहीं हैं । धन-संपत्ति और स्वजनों की इस स्थिति को देख, हे आत्मन् ! तू इन पदार्थों पर से अपना मोह उतार दे । उनकी ममता छोड दे और शीघ्र ही आत्म-हित की प्रवृत्ति में लग जा, इसी में तेरा सच्चा हित रहा हुआ है ।

सुख-दुःख

सबसे अधिक दुःख
निगोद में रहा हुआ है तो
सबसे अधिक सुख
मोक्ष में रहा हुआ है ।
निगोद में भी
अनंत आत्माएँ हैं और
मोक्ष में भी अनंत आत्माएँ हैं ।
निगोद में रही आत्माओं के
दुःख का पार नहीं है, जबकि
मोक्ष में रही आत्माओं के
सुख का पार नहीं है ।

विद्धिज्जंता असयं, जम्म-जरा-मरण-तिक्खकुंतेहिं ।
दुह-मणुहवंति घोरं, संसारे संसरंत जिया ॥88॥

शब्दार्थ

विद्धिज्जंता=बिंधाते हुए, **असयं**=बार-बार, **जम्म-जरा-मरण**=जन्म, वृद्धावस्था, मृत्यु रुपी, **तिक्खकुंतेहिं**=तीक्ष्ण भालों से, **दुह**=दु:ख को, **मणुहवंति**=अनुभव करता है, **घोरं**=घोर, **संसारे**=संसार में, **संसरंत**=भटकते हुए, **जिया**=जीव ।

अर्थ : इस संसार में भटकनेवाले जीव जन्म, जरा और मृत्यु रूपी तीक्ष्ण भालों से बिंधाते हुए भयंकर दु:खों का अनुभव करते हैं ।

विवेचन : इस संसार में परिभ्रमण करती हुई आत्मा जन्म, जरा और मृत्यु के भयंकर दु:खों को सहन करती है ।

असाधारण वनस्पतिकाय अर्थात् निगोद में रही हुई आत्मा सतत जन्म-मरण के दु:खों को सहन करती रहती है ।

अपने एक श्वासोच्छ्वास में निगोद जीव के 17½ भव हो जाते हैं । अर्थात् 17 बार जन्म और 17 बार मरण के चक्र का पूर्ण कर 18वीं बार जन्म हो गया होता है । दो घड़ी की एक सामायिक में निगोद जीव के 65536 भव हो जाते हैं ।

तिर्यंच गति में भी बेइन्द्रिय-तेइन्द्रिय आदि जीवों की क्या स्थिति है ! उनका जीवन कहाँ सुरक्षित है ! मौत की नंगी तलवार उनके मस्तक पर सदैव घूमती रहती है ।

थोडी-सी वर्षा हुई और ये जीव मौत के मुँह में चले जाते हैं । थोडा सा पवन बहा और उसके साथ ही झाड़ के पत्ते गिरने लग जाते हैं ।

कसाई जब पशुओं की गर्दन पर छूरी चलाता है तो उस पशु की वेदना का कोई पार नहीं होता है । कई बार कई पशुओं की जींदे जी चमडी उतार दी जाती है । कई बार कई पशुओं को जींदे जी आग में पका दिया जाता है । उस समय की उन जीवों की वेदना का कोई पार नहीं होता है ।

हे जीव ! तिर्यंचों के भव में वे सारी पीड़ाएं पराधीन अवस्था में सहन की है, अत: अब विपूल कर्मनिर्जरा करानेवाले दु:खों को सहन करने में तू कायर क्यों बनता है ?

तहवि खणंपि कयावि हु, अन्नाण-भुअंग-डंकिआ जीवा ।
संसार-चारगाओ, न य उव्विज्जंति मूढमणा ।।89।।

शब्दार्थ

तहवि=फिर भी, **खणंपि**=क्षण के लिए, **कयावि हु**=कभी भी, **अन्नाण**=अज्ञान, **भुअंग-डंकिआ**=सर्प से डसे हुए, **जीवा**=जीव, **संसार-चारगाओ**=संसार रुपी कैद से, **न य**=नहीं, **उव्विज्जंति**=उद्वेग पाते है, **मूढमणा**=मूढ़ मन वाले ।

अर्थ : अज्ञान रूपी सर्प से डसे हुए मूढ़ मनवाले जीव इस संसार रूपी कैद से कभी भी उद्वेग प्राप्त नहीं करते हैं ।

विवेचन : इस संसार में नाना प्रकार की पीड़ाओं को सहन करने पर भी अज्ञान रूपी सर्प से डसे जीवों को इस संसार से कभी उद्वेग पैदा नहीं होता है ।

साँप का जहर चढ़ने के साथ ही व्यक्ति बेहोश हो जाता है, उसी प्रकार मोह और अज्ञानता का जब जहर चढ़ जाता है, तब आत्मा को अपने स्वरूप का कुछ भी भान नहीं रहता है । उस जहर के कारण अपना जो मूल स्वरूप है, उसे वह भूल जाती है और जो अपना स्वरूप नहीं है, उसे अपना स्वरूप मान लेती है ।

आत्मा द्रव्य से नित्य और पर्याय से अनित्य है, परंतु अज्ञान दशा के कारण आत्मा को अपने मूल स्वरूप का भान नहीं होता है । अपने अनित्य पर्याय को ही वह नित्य मान लेती है, इस कारण उस पर्याय के नाश में वह शोक और संताप करती है । अपने नित्य स्वरूप का भान नहीं होने के कारण वह अपने विनाशी पर्याय को बचाने के लिए ही प्रयत्नशील बनती है ।

मिथ्यात्व के उदय के साथ जो ज्ञान होता है वह भी अज्ञान ही कहलाता है । अठारह-पापों में भी सबसे भयंकर पाप मिथ्यात्व ही है । मिथ्यात्व को दूर करना बहुत ही कठिन है ।

मिथ्यात्व की उपस्थिति में सभी पाप पुष्ट होते है जबकि मिथ्यात्व दूर हो जाय तो सभी पाप कमजोर हो जाते है । मिथ्यात्व दूर होने पर ज्ञान भी सम्यग्ज्ञान हो जाता हैं, जो मुक्ति-सुख का कारण बनता है ।

अज्ञान को दूर करने के लिए सम्यक्त्व की आराधना खूब जरुरी है । एक बार भी आत्मा में सम्यग्दर्शन के परिणाम पैदा हो गए तो आत्मा का संसार परिभ्रमण मर्यादित हुए बिना नहीं रहता है ।

कीलसि कियंत-वेलं, सरीर-वावीइ जत्थ पइ समयं ।
कालरहट्ट-घडीहिं, सोसिज्जइ जीविअंभोहं ।।90।।

शब्दार्थ

कीलसि=तू क्रीडा करेगा,	**पइ समयं**=प्रतिसमय,
कियंत=कितने,	**कालरहट्ट-घडीहिं**=काल रुपी अरहट्ट के घड़ों द्वारा
वेलं=समय तक,	**सोसिज्जइ**=शोषण हो रहा है,
सरीर=शरीर रुपी,	**जीविअंभोहं**=जीवन रुपी पानी का ।
वावीइ=बावड़ी,	
जत्थ=जहाँ,	

अर्थ : इस देह रूपी बावड़ी में तू कितने समय तक क्रीड़ा करेगा ? जहाँ से प्रति समय कालरूपी अरहट के घड़ों द्वारा जीवन रूपी पानी के प्रवाह का शोषण हो रहा है ।

विवेचन : एक रूपक के माध्यम से ग्रंथकार महर्षि संसार की असारता समझा रहे हैं । जिस प्रकार अरहट में रहे घड़े बावड़ी में से जल को बाहर निकालते रहते हैं, इस प्रकार धीरे-धीरे बावड़ी का पानी कम होता जाता है ।

बस, उसी प्रकार ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है, त्यों-त्यों अपना आयुष्य कम होता जाता है और एक दिन अपना आयुष्य समाप्त हो जाता है । आत्मा इस देह को छोड़कर अकेली ही परलोक के मार्ग में प्रयाण कर जाती है ।

उम्र बढने के साथ मनुष्य का धन, पुत्र, परिवार, जमीन, जायदाद, मकान-दुकान आदि का Balance बढ़ सकता है परंतु आयुष्य का Balance तो अवश्य घटता ही है ।

ज्यों-ज्यों अपने जीवन का समय बीत रहा है, त्यों-त्यों आयुष्य घट ही रहा हैं, अत: धर्म आराधना में थोड़ा भी प्रमाद करने जैसा नहीं है ।

पूज्य आनंदघनजी म. ने भी ठीक ही गया हैं-

'अंजलि जल ज्युं आयु घटत है ।'

हाथों की अंजलि में रहा जल धीरे धीरे घटता जाता है, उसी प्रकार अपना आयुष्य प्रति क्षण घटता ही जा रहा है । समय रहते व्यक्ति आत्म साधना के लिए सावधान नहीं रहता हैं, उसे बाद में पछताना ही पडता है ।

आए हुए अवसर को जो साध लेता है, वो ही होशियार कहलाता है । प्राप्त हुए अवसर को जो चूक जाता हैं, उसे तो मुर्ख ही कहा जाता है । ऐसी मुर्खता इस जीवन में न हो, इसके लिए खूब सावधान रहना चाहिये !

रे जीव ! बुज्झ मा मुज्झ, मा पमायं करेसि रे पाव !
किं परलोए गुरु-दुक्ख-भायणं होहिसि ? अयाण ! ||91||

शब्दार्थ

रे जीव !=हे जीव !, **बुज्झ**=तू बोध पा, **मा मुज्झ**=मोहित मत हो, **मा पमायं करेसि**=तू प्रमाद मत कर, **रे पाव !**=हे पापी !, **किं**=क्यों, **परलोए**=परलोक में, **गुरु**=बड़े, **दुक्ख-भायणं**=दु:ख का पात्र, **होहिसि ?**=होता है ? **अयाण !**=हे अज्ञानी !

अर्थ : हे जीव ! तू बोध पा ! मोहित न बन। हे पापी ! तू प्रमाद मत कर ! हे अज्ञानी ! परलोक में भयंकर दु:ख का भाजन क्यों होता है ?

विवेचन : अपनी ही आत्मा को संबोधित करते हुए ग्रंथकार महर्षि कहते हैं कि हे जीव ! हे अज्ञानी आत्मा ! तू बोध पा। संसार की इस चकाचौंध में तू क्यों मोहित होता है ? भौतिक पदार्थों का यह सौंदर्य तो क्षणिक है, नाशवंत है। आज जो सुंदरता नजर आ रही है, वह कल रहनेवाली नहीं है, दुनिया की सारी संपत्ति-समृद्धि नश्वर है, अत: उसमें व्यर्थ ही क्यों मोहित होता है ?

हे पापी आत्मा ! तू प्रमाद के वशीभूत होकर अपने स्वरूप को क्यों भूल गया है ? तू तो अजर-अमर-अविनाशी आत्मा है। तू अक्षय सुख का भंडार है। आत्म-स्वरूप की विस्मृति यही तो सबसे बड़ा प्रमाद है।

यहाँ थोड़े समय की जागृति तुझे अनंत सुख का धाम बना देगी, जबकि यहाँ इस जन्म में किया गया प्रमाद तुझे अनंत दु:ख के गर्त में डुबो देगा। अब थोड़ी देर के लिए भी तू प्रमादग्रस्त क्यों बनता है ?

प्रमाद का सेवन तो विषमिश्रित मोदक के भक्षण जैसा है, उसमें एक बार तृप्ति का अनुभव होगा, परंतु परिणाम में तो मौत ही है। प्रमाद के सेवन में थोड़े समय तक आनंद रहेगा, परंतु उसके परिणाम स्वरूप तो अनंतकाल तक दु:ख ही सहन करने का है।

प्रमाद के मुख्य 5 भेद है- मद्य, विषय, कषाय, निद्रा और विकथा ! इन पांच प्रकार के प्रमाद के वशीभूत होकर आत्मा ने अपना बहुत कुछ खोया है। अनादिकाल से पांच इन्द्रियों के पांच विषयों का आकर्षण जीवात्मा में रहा हुआ है, अत: उन विषयों की सामग्री मिलते ही आत्मा उन विषयों के जाल में फंस जाती है, उन विषयों के आकर्षण को तोडना बहुत ही कठिन है।

जिसके भीतर वैराग्य की ज्योत प्रज्वलित हो, वे ही व्यक्ति विषयों के आकर्षण को समाप्त कर सकता है।

बुज्झसु रे जीव ! तुमं, मा मुज्झसु जिणमयंमि नाऊणं ।
जम्हा पुणरवि एसा, सामग्गी दुल्लहा जीव ! ।।92।।

शब्दार्थ

बुज्झसु=बोध पा, **रे जीव !**=हे जीव, **तुमं**=तू, **मा मुज्झसु**=मोहित मत हो, **जिणमयंमि**=जिन मत को, **नाऊणं**=जानकर के, **जम्हा**=क्योंकि, **पुणरवि**=पुनः प्राप्ति, **एसा**=इस प्रकार की, **सामग्गी**=सामग्री, **दुल्लहा**=दुर्लभ है, **जीव !**=हे जीव !

अर्थ : हे जीव ! तू बोध पा ! जिनमत को जानकर तू व्यर्थ ही मोहित न हो ! क्योंकि इस प्रकार की सामग्री की पुनः प्राप्ति होना दुर्लभ है ।

विवेचन : हे जीवात्मन् ! तू सत्य-मार्ग को समझने की कोशिश कर ।

वीतराग परमात्मा के द्वारा निर्दिष्ट साधना-मार्ग एकांत हितकर है । उस मार्ग को समझने में तेरी बुद्धि कुंठित क्यों होती है ? जिनेश्वर के मत में तू लेश भी अश्रद्धा मत कर, वो ही सच्चा और हितकारी मार्ग है । उस मार्ग को यदि तूने छोड दिया तो याद रखना तू दुःखी-दुःखी हो जाएगा ।

मानव-जन्म, धर्म-श्रवण, धर्म-श्रद्धा और संयम में आचरण-ये चारों वस्तुएँ अत्यंत ही दुर्लभ हैं । दुनियाँ की बाह्य सामग्री तो पैसे के बल पर खरीदी जा सकती है, परंतु आत्महितकर सामग्री की प्राप्ति के लिए तो प्रचंड पुण्य चाहिए । पुण्य के उदय बिना ये सारी सामग्रियाँ प्राप्त नहीं होती हैं ।

पूर्व-जन्म में जाने-अनजाने में की गई जिनधर्म की आराधना के फल स्वरूप तुझे मोक्ष-मार्ग के अनुकूल बहुत सी सामग्रियाँ प्राप्त हो गई है । अब तू प्रमाद के वशीभूत होकर उन सामग्रियों के लाभ से क्यों वंचित हो रहा है ! तुम्हारा यह प्रमाद तुम्हारे लिए कितना हानिकार सिद्ध होगा, अतः तुम्हे जागृत बनने की आवश्यकता है ।

भोजन सामने हो, फिर भी व्यक्ति भूखा मर जाय तो वह दया पात्र ही कहलाता है, उसी प्रकार पूर्व के पुण्योदय से मोक्ष मार्ग के अनुकूल सामग्री मिलने पर भी जो मोक्ष मार्ग की साधना से वंचित रह जाता है, वह अत्यंत दया पात्र है । गरीब जितना दया पात्र नहीं हैं, उससे भी अधिक दयापात्र धर्महीन धनवान है । गरीब तो वर्तमान में दुःखी हैं, जबकि धर्महीन का तो भविष्य ही अंधकारमय है, अतः उसके दुःख का तो कोई पार नहीं है । ज्ञानियों की दृष्टि में गरीब से भी धर्महीन चक्रवर्ती ज्यादा दया पात्र है ।

दुलहो पुण जिणधम्मो, तुमं पमायायरो सुहेसी य ।
दुसहं च नरयदुक्खं, कह होहिसि तं न याणामो ।।93।।

शब्दार्थ

दुलहो=दुर्लभ है, **पुण**=पुनः, **जिणधम्मो**=जैन धर्म, **तुमं**=तू, **पमायायरो**=प्रमाद में आदरवाला, **सुहेसी**=सुख का अभिलाषी, **य,च**=और, **दुसहं**=असह्य, **नरयदुक्खं**=नरक का दुःख, **कह**=क्या, **होहिसि**=होगा, **तं**=वो, **न**=नहीं, **याणामो**=जानते है ।

अर्थ : जिनधर्म की प्राप्ति दुर्लभ है । तू प्रमाद में आदरवाला और सुख का अभिलाषी है । नरक का दुःख असह्य है । तेरा क्या होगा, यह हम नहीं जानते हैं ।

विवेचन : तीर्थंकर परमात्मा के द्वारा प्ररूपित यह जिनधर्म आसानी से प्राप्त नहीं होता है । तू तो प्रमादी है । आलस्य आदि के वशीभूत जीव को इस धर्म की प्राप्ति सुलभ नहीं है ।

धर्म की प्राप्ति में निम्न वस्तुएँ बाधक हैं-

1) आलसी व्यक्ति धर्मश्रवण हेतु साधु के पास नहीं जाता है । 2) घर के कार्य में जो मूढ़ है, वह भी धर्म का श्रवण नहीं करता है । 3) `ये साधु क्या जानते हैं ?' इस प्रकार अवज्ञा से भी साधु के पास नहीं जाता है । 4) जाति, बल आदि का अभिमान हो तो भी धर्मश्रवण नहीं करता है । 5) क्रोधी व्यक्ति को साधु के पास जाने की इच्छा नहीं होती है । 6) मद्य आदि का जो सेवन करता हो, वह भी साधु से दूर ही रहता है । 7) जीवन में कृपणता दोष हो तो साधु के पास जाने से कतराता है । 8) `नरक आदि के भय का वर्णन करेंगे' इस विचार से भी साधु के पास नहीं जाता है । 9) इष्ट वस्तु के वियोग से पैदा हुए शोक के कारण भी व्यक्ति धर्म का श्रवण नहीं करता है । 10) कुदर्शन से ग्रसित हो तो भी साधु के पास धर्मश्रवण हेतु नहीं जाएगा । 11) नट आदि के नाटक आदि देखने के कुतूहल से भी व्यक्ति धर्मश्रवण नहीं करता है । 12) शिकार आदि का शौक होने पर भी व्यक्ति धर्मश्रवण से वंचित रहता है । 13) टी.वी. आदि मनोरंजन में मस्त व्यक्ति भी धर्मश्रवण नहीं करता है ।

धर्मश्रवण की अनुकूलता प्राप्त होने पर भी जीव 13 कारणों से धर्म का श्रवण नहीं करता है । ऐसा दुर्लभ धर्म तुझे प्राप्त हो गया है, यह तुम्हारा कितना बड़ा सौभाग्य है; परंतु प्रमाद और सुख की लालसा तुम्हारे अमूल्य समय को खा जाती है ।

अथिरेण थिरो समलेण, निम्मलो परवसेण साहीणो ।
देहेण जइ विढप्पइ, धम्मो ता किं न पज्जत्तं ।।94।।

शब्दार्थ

अथिरेण=अस्थिर से,	**देहेण**=देह के द्वारा,
थिरो=स्थिर,	**जइ**=यदि,
समलेण=मल सहित से,	**विढप्पइ**=प्राप्त हो सकता है ।
निम्मलो=निर्मल,	**धम्मो**=धर्म, स्वभाव,
परवसेण=पराधीन से,	**ता किं न**=तो फिर क्यां न,
साहीणो=स्वाधीन,	**पज्जत्तं**=प्राप्त नहीं हुआ ।

अर्थ : अस्थिर, मलिन और पराधीन देह से स्थिर, निर्मल और स्वाधीन धर्म की प्राप्ति हो सकती हो तो तुझे क्या प्राप्त नहीं हुआ ?

विवेचन : मानव का देह अस्थिर है अर्थात् कभी भी यह देह नष्ट हो सकता है । इस देह के साथ ही रोग का भय जुड़ा हुआ है, कोई भी रोग इस देह को जर्जरित कर सकता है ।

मानवदेह की उत्पत्ति अशुचिमय पदार्थों से होती है और यह मानव देह भी अशुचि-गंदगी से भरी हुई है । पुरुष के नौ द्वारों और स्त्रियों के बारह द्वारों से सतत अशुचि का प्रवाह बहता रहता है ।

मानव शरीर गंदगी से भरा हुआ है, इसमें जो कुछ भी अच्छा पदार्थ डाला जाता है, उसे वह बिगाड़े बिना नहीं रहता है । Best माल को waste करने का काम मानव शरीर करता है । मानव शरीर मलिन होते हुए भी इसी शरीर के माध्यम से जिनेश्वर कथित निर्मल धर्म की आराधना हो सकती है ।

मानवदेह तो पराधीन है । अनुकूल भोजन सामग्री मिलने पर पुष्ट होता है और अनुकूल सामग्री न मिले तो कमजोर हो जाता है । मानवशरीर पराधीन होने पर भी इससे स्वाधीन धर्म की आराधना हो सकती है ।

देवताओं के देह में किसी प्रकार की अशुचि-गंदगी नहीं है, परंतु मोक्ष-मार्ग की साधना में वे देवता सम्यक्त्व से आगे नहीं बढ़ सकते हैं । उस साधना के लिए तो मानव देह ही चाहिए । ऊंट के शरीर में अनेक वक्रताएं है, परंतु रेगिस्तान के रण को पार करना हो तो मारूती कार के बदले ऊंट ही चाहिए । बस, इसी प्रकार मोक्ष मार्ग की साधना भी मानव देह से ही संभव हैं, अत: उस देह को प्राप्त कर उसी की साधना के लिए अपना प्रबल पुरुषार्थ होना चाहिए । भूतकाल में की गई भूलों का इस जीवन में सुधार होना चाहिये, न कि पुनरावर्तन ।

जह चिंतामणिरयणं, सुलहं न हु होइ तुच्छ-विहवाणं ।
गुण-विहव-वज्जियाणं, जियाण तह धम्मरयणं पि ।।95।।

शब्दार्थ

जह=जिस प्रकार, **चिंतामणिरयणं**=चिंतामणि रत्न, **सुलहं**=सुलभ, **न हु होइ**=नहीं होता है, **तुच्छ**=तुच्छ, **विहवाणं**=वैभववाले, **गुण**=गुण, **विहव**=वैभव से, **वज्जियाणं**=रहित, **जियाण**=जीव को, **तह**=उस प्रकार, **धम्मरयणं**=धर्मरत्न, **पि**=भी ।

अर्थ : जिस प्रकार तुच्छ वैभववाले गरीब को चिंतामणि रत्न सुलभ नहीं होता है, उसी प्रकार गुणवैभव से दरिद्र व्यक्ति को भी धर्मरूपी रत्न की प्राप्ति नहीं होती है ।

विवेचन : कदम कदम पर निधान रहे होने पर भी भाग्यहीन व्यक्ति को उन निधानों की प्राप्ति कदापि नहीं होती है । भाग्यहीन व्यक्ति के गृहांगण में चिंतामणि रत्न कहाँ से ? चिंतामणि रत्न को पाने के लिए बहुत बड़ा पुण्य चाहिए । पुण्यहीन व्यक्ति को चिंतामणिरत्न नहीं मिलता है । बस, इसी प्रकार जो जीव गुणों से हीन है, दरिद्र है, ऐसे व्यक्ति को भी धर्मरूपी रत्न की प्राप्ति सुलभ नहीं होती है ।

जिसके पास में सद्‌गुण रूपी रत्नों का वैभव होता है, वो ही व्यक्ति अपने जीवन में धर्मरत्न को प्राप्त कर सकता है । **'धर्मरत्न प्रकरण'** ग्रंथ में सद्धर्म की प्राप्ति की योग्यता स्वरुप 21 गुण बतलाए हैं । जिस व्यक्ति के पास ये गुण होते हैं, वो ही व्यक्ति इस धर्मरत्न को पाने के लिए योग्य माना जाता है ।

गुणहीन व्यक्ति भी बाह्यद्रष्टि से धर्मक्रियाएँ कर सकता है, परंतु मात्र उन क्रियाओं के बल से वास्तविक धर्म को प्राप्त नहीं कर पाता है । बाह्य धर्म क्रियाएँ या धर्मानुष्ठान तो अभव्य और दूरभवी आत्मा भी कर लेती है, परंतु वास्तविक गुणों की प्राप्ति के अभाव के कारण उसकी बाह्य क्रियाएँ भी आत्मिक दृष्टि से कुछ भी लाभ का कारण नहीं बनती हैं ।

आसन्न मोक्षगामी आत्माओं को ही गुण-रत्नों की प्राप्ति होती है । जिसके पास गुण रूपी रत्न हैं, वो ही धर्म रुपी रत्न प्राप्त कर पाता है । अत: इस जीवन में हीरे, मोती, माणेक आदि जड रत्नों को पाने के लिए ज्यादा श्रम नहीं होना चाहिये, बल्कि गुणों के संग्रह के लिए, गुणों को प्राप्त करने के लिए पुरुषार्थ होना चाहिये । गुण होंगे तो ही धर्म रुपी रत्न सुलभता से प्राप्त हो सकेगा, अन्यथा नहीं !

जह दिट्ठी-संजोगो, न होइ जच्चंधयाण-जीवाणं ।
तह जिणमय-संजोगो, न होइ मिच्छंध-जीवाणं ।।96।।

शब्दार्थ

जह=जिस प्रकार,	**तह**=उसी प्रकार,
दिट्ठी-संजोगो=दृष्टि का संयोग,	**जिणमय-संजोगो**=जिनमत का संयोग,
न होइ=नहीं होता,	**न होइ**=नहीं होता,
जच्चंधयाण=जन्म से अन्ध,	**मिच्छंध-जीवाणं**=मिथ्यात्व से अंधे बने हुए जीव को ।
जीवाणं=जीव को,	

अर्थ : जन्म से अंधे जीव को जिस प्रकार दृष्टि का संयोग नहीं होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व से अंधे बने हुए जीव को भी जिनमत का संयोग नहीं होता है ।

विवेचन : जिस व्यक्ति के पास आँखे नहीं हैं, उसे संसार के बाह्य पदार्थ दिखाई नहीं देते हैं अर्थात् जन्मांध जीव को बाह्य पदार्थों का स्पष्ट बोध नहीं होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व से अंधे बने हुए जीवों को भी कभी जिनमत का संबंध नहीं हो पाता है । मिथ्यात्व से अंधे बने व्यक्ति के लिए जिनमत की प्राप्ति अत्यंत ही दुर्लभ है ।

गाढ़ मिथ्यात्व के उदय में तो जिनमत के प्रति प्रेम ही पैदा नहीं होता है ।

जिस प्रकार ज्वर के रोग से पीड़ित व्यक्ति की आहार में रुचि नहीं होती है उसी प्रकार मिथ्यात्व से ग्रस्त व्यक्ति को जिनमत पसंद नहीं पड़ता है ।

दूधपाक को छोड़कर भी सुअर विष्टा से ही आकर्षित होता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व से ग्रस्त आत्मा को जिनमत के बजाय मिथ्यात्व द्वारा निर्दिष्ट आचार मार्ग ही पसंद पड़ता है ।

एक ओर दूधपाक पड़ा हो और दूसरी ओर विष्टा पड़ी हो तो सुअर अपना मुँह विष्टा की ओर ही करता है, उसे दूधपाक के बजाय विष्टा में ही आनंद आता है । इसी प्रकार मिथ्यात्व से अंध बनी आत्मा को संसारवर्धक भौतिक क्रियाओं में ही आनंद आता है । गाढ़ मिथ्यात्व के उदय के कारण उन मिथ्यात्वी जीवों को जिनमत को समझने की दृष्टि नहीं होती है ।

जिस प्रकार केंसर, एड्स आदि के रोग शक्तिशाली व्यक्ति को भी अत्यंत कमजोर बना देते हैं, उसी प्रकार मिथ्यात्व का रोग भी आत्मा के लिए अत्यंत ही खतरनाक है । यह रोग जब तक जीवित रहता है, तब तक आत्मा के संसार परिभ्रमण का कहीं अंत नहीं आता हैं, अतः उस मिथ्यात्व को दूर हटाने के लिए प्रयत्न करना चाहिये ।

पच्चक्खंमणंत गुणे, जिणिंदधम्मे न दोसलेसोऽवि ।
तहवि हु अन्नाणंधा, न रमंति कयावि तम्मि जिया ।।97।।

शब्दार्थ

पच्चक्खं=प्रत्यक्ष है,	**तहविहु**=फिर भी खेद है,
अणंत गुणे=अनंत गुणवाले,	**अन्नाणंधा**=अज्ञान से अंध बने,
जिणिंदधम्मे=जिनेश्वर के धर्म में,	**न रमंति**=रमणता नहीं करते है,
न दोस=दोष नहीं है,	**कयावि**=कभी भी,
लेसोऽवि=अल्प भी,	**तम्मि जिया**=उसमें जीव ।

अर्थ : जिनेश्वर के धर्म में प्रत्यक्ष अनंत गुण हैं और दोष नाम मात्र भी नहीं है, फिर भी खेद की बात है कि अज्ञान से अंध बने हुए जीव उसमें रमणता नहीं करते हैं ।

विवेचन : आँख के अंधापे से भी अज्ञान का अंधापा बहुत ही भयंकर है । ज्ञानी व्यक्ति तत्त्व-अतत्त्व और हेय-उपादेय को जानता है, इसके परिणामस्वरूप वह हेय में हेय बुद्धि और उपादेय में उपादेय बुद्धि कर सकता है ।

अज्ञानता के कारण हेय में उपादेय बुद्धि होने से व्यक्ति आत्महितकर प्रवृत्ति से दूर हो जाता है और आत्म-अहितकार प्रवृत्ति में आकंठ डूब जाता है । इसके परिणामस्वरूप सद्गति के द्वार बंद कर देता है, दुर्गति के द्वार उघाड़ देता है ।

जिनेश्वर परमात्मा का धर्म सर्वज्ञ-प्ररूपित है अत: उसमें कहीं भी झूठ को स्थान नहीं है । जिनेश्वर के धर्म में शाश्वत सत्यों की प्ररूपणा की गई है । उसमें अनंत गुण है और लेश मात्र भी दोष नहीं है, फिर भी आश्चर्य है कि अज्ञान रूपी अंधकार में डूबे हुए जीव उसमें लेश भी रमणता नहीं करते हैं ।

जिनेश्वर के धर्म में आत्मकल्याण का मार्ग स्पष्ट रूप से बताया गया है, उसमें कहीं भी शंका का स्थान नहीं है, परंतु अज्ञानी जीव उस मार्ग की सत्यता को समझ नहीं पाते हैं, इस कारण वे इस संसार के मायाजाल में जहाँ-तहाँ भटकते रहते हैं ।

ठीक ही कहा है-**'अज्ञानं खलु कष्टं'** अज्ञान ही सबसे बडा कष्ट है । जब तक अज्ञानता दूर नहीं होगी, तब तक आत्मा को संसार की माया जाल में ही भटकने का है । अत: अज्ञानता को दूर करने के लिए प्रबल पुरुषार्थ करना चाहिये । इसके लिए जिनागमों का आलंबन लेना चाहिये । जिनवाणी हमें अनेक पापों से स्वत: बचाती है

मिच्छे अणंतदोसा, पयडा दीसंति न वि य गुणलेसो ।
तह वि य तं चेव जिया, ही मोहंधा निसेवंति ।।98।।

शब्दार्थ

मिच्छे=मिथ्यात्व में, **अणंतदोसा**=अनंत दोष है, **पयडा**=प्रकट, **दीसंति**=दिखाई देते है, **न वि य**=और नहीं है, **गुणलेसो**=गुण का लेश, **तह वि य**=और फिर भी, **तं चेव**=उसी मिथ्यात्व को, **जिया**=जीव, **ही**=खेद अर्थ में, **मोहंधा**=मोह से अंधे बने, **निसेवंति**=सेवन करते है ।

अर्थ : मिथ्यात्व में प्रगट अनंत दोष दिखाई देते हैं और उसमें गुण का लेश भी नहीं है, फिर भी आश्चर्य है कि मोह से अंधे बने हुए जीव उसी मिथ्यात्व का सेवन करते हैं ।

विवेचन : अठारह पापस्थानकों में सबसे भयंकर पाप यदि कोई है तो वह अठारहवां मिथ्यात्व नाम का पाप है । इस पाप के सेवन में अनंत दोष रहे हुए हैं, गुण का नाम ही नहीं है । मिथ्यात्व शब्द का अर्थ ही है-झूठापन अर्थात् जिसमें सब कुछ झूठ ही रहा हुआ है । जिनमत से विपरीत मत के स्वीकार में मिथ्यात्व का स्वीकार है और वे सब मत मिथ्यात्व का आश्रय किये हुए हैं ।

मिथ्यात्व से ग्रस्त आत्मा इस संसार में जहाँ-तहाँ भटकती रहती है । मिथ्यात्व के सेवन में दोषों का पार नहीं है, फिर भी आश्चर्य है कि मोह से अंधे बने हुए जीव उसी मिथ्यात्व का सेवन करते हैं, उन्हें मिथ्यामत से निर्दिष्ट क्रियाओं में ही आनंद आता है । इस विराट् विश्व में मिथ्यादृष्टि जीवों की ही बहुलता है । उन मिथ्यादृष्टि जीवों को गाढ़ मिथ्यात्व के कारण जिनमत की आराधना साधना में कुछ भी गुण दिखाई नहीं देते हैं ।

जैन धर्म, वीतराग और सर्वज्ञ कथित है ! जो वीतराग होते हैं वे राग-द्वेष से सर्वथा मुक्त होते है और जो सर्वज्ञ होते हैं, वे सब कुछ जानते है । अत: उनके द्वारा बताए हुए मार्ग में कहीं भी शंका को स्थान नहीं रहता है । ऐसे वीतराग का धर्म महान पुण्य के उदय बिना प्राप्त नहीं हो सकता है ।

हे आत्मन् ! तेरे पुण्य की कोई सीमा नहीं हैं, क्योंकि तुझे जन्म से वीतराग का धर्म मिल गया है इसी धर्म की आराधना तुझे शाश्वत मोक्षपद प्रदान करेगी, अत: इसकी आराधना में लेश भी प्रमाद मत कर । अठारह पाप स्थानकों का राजा मिथ्यात्व कहलाता है । जिस प्रकार राजा की मौत हो जाने पर सारा सैन्य कमजोर हो जाता है, उसी प्रकार मिथ्यात्व के नष्ट होने पर अन्य सभी 17 पाप कमजोर हो जाते है । आत्मा को अनंतकाल तक संसार में भटकानेवाला भयंकर पाप मिथ्यात्व ही है । अत: इस जीवन में मिथ्यात्व के नाश और सम्यक्त्व की प्राप्ति के लिए अवश्य प्रयत्न करना चाहिए ।

धी धी ताण नराणं, विन्नाणे तह गुणेसु कुसलत्तं ।
सुह-सच्च-धम्म-रयणे, सुपरिक्खं जे न जाणंति ।।99।।

शब्दार्थ

धी धी=धिक्कार हो !, **ताण नराणं**=उस पुरुष के, **विन्नाणे**=विज्ञान, **तह**=तथा, **गुणेसु**=गुणों की, **कुसलत्तं**=कुशलता को, **सुह**=सुखदायी, **सच्च**=सच्चे, **धम्म-रयणे**=धर्म रुपी रत्न में, **सुपरिक्खं**=अच्छी तरह से परीक्षा, **जे न**=जो नहीं, **जाणंति**=जानते है ।

अर्थ : जो सुखदायी और सत्यधर्म रूप रत्न की अच्छी तरह से परीक्षा नहीं कर सकते हैं, उन पुरुषों के विज्ञान और गुणों की कुशलता को धिक्कार हो ! धिक्कार हो !!

विवेचन : पुरुषों की 72 कलाएँ और स्त्रियों की 64 कलाएँ कहलाती हैं । परंतु इन सबसे भी बढ़कर धर्मकला है । इन सब कलाओं को सीखने पर भी यदि मानव धर्मकला को नहीं सीखता है तो उसकी उस बुद्धिमत्ता को भी धिक्कार हो । आज का मानव बल व बुद्धि प्राप्त होने पर उनका उपयोग भोग और विलासिता में करता है, वास्तव में भोगरसिक आत्माओं को प्राप्त बुद्धि का क्षयोपशम भी प्रशंसनीय नहीं है, क्योंकि वह बुद्धि भी संसारवर्धक ही है ।

मोहाधीन बनी आत्माओं की लगभग यहीं करुण कहानी है, वे अपनी शक्तियों का उपयोग संसारवृद्धि के लिए ही करते हैं । लाखों में एकाध कोई विरल आत्मा पैदा होती है, जिसके जीवन में भोग के बदले योग की प्रतिष्ठा दिखाई देती है, उन आत्माओं को भोग के बदले त्याग में आनंद आता है । भोगसुखों में उन्हें भयंकर रोग के दर्शन होते हैं । भोगसुखों को छोड़ने के लिए वे तलपापड़ बनी होती हैं ।

अंधा व्यक्ति यदि खड्डे में गिर जाय तो वह दयापात्र कहलाता है परंतु आँख होने पर भी जो व्यक्ति खड्डे में गिर जाता है, वह दयापात्र नहीं, बल्कि मुर्ख ही कहलाता है । उसी प्रकार जिनके पास बुद्धि नहीं है ऐसे बुद्धिहीन व्यक्ति तो दुनिया के किसी भी पदार्थ की परीक्षा नहीं कर पाते हैं, परंतु जो बुद्धिशाली होने पर भी सद्धर्म की परीक्षा नहीं कर पाते हैं, ऐसे बुद्धिशाली की बुद्धि भी धिक्कार की पात्र है । प्रभु के पास संसार के भौतिक सुखों की मांग नहीं करनी चाहिये । यदि कुछ मांगना ही है तो संपत्ति के बजाय सन्मति-सद्बुद्धि की मांग करो । जीवन में सद्बुद्धि होगी तो सब कुछ अच्छा होगा । सद्बुद्धि ही नहीं होगी तो आत्मा का सिर्फ पतन ही है ।

जिणधम्मोऽयं जीवाणं, अपुव्वो कप्प-पायवो ।
सग्गा-पवग्ग-सुक्खाणं, फलाणं दायगो इमो ॥100॥

शब्दार्थ

जिणधम्मोऽयं=यह जिन धर्म,	**सग्गा-पवग्ग**=स्वर्ग और मोक्ष के,
जीवाणं=जीवो के लिए,	**सुक्खाणं**=सुखों के,
अपुव्वो=अपूर्व,	**फलाणं**=फल को,
कप्प-पायवो=कल्प वृक्ष है,	**दायगो**=देनेवाला, **इमो**=यह ।

अर्थ : यह जिनधर्म जीवों के लिए अपूर्व कल्पवृक्ष है । यह धर्म स्वर्ग और मोक्ष के सुखों का फल देनेवाला है ।

विवेचन : युगलिक काल में मानव की इच्छापूर्ति के लिए 10 प्रकार के कल्पवृक्ष होते थें । उन कल्पवृक्षों के पास जो भी याचना करते, कल्पवृक्ष उन याचनाओं को पूरी कर देते । परंतु कल्पवृक्ष में तो फल देने की अपनी मर्यादा है, वह मात्र इस लोक संबंधी ही फल दे सकता है, परलोक संबंधी फल देने में वह असमर्थ है । कल्पवृक्ष मांगने पर ही फल देता है, बिना मांगे वह कुछ भी फल नहीं देता है, जबकि यह जिनधर्म तो कोई अपूर्व ही कल्पवृक्ष है, यह कल्पवृक्ष स्वर्ग और मोक्ष के सुख देने में समर्थ है ।

जिनधर्म की आराधना-साधना करनेवाला इस लोक में भी सुखी होता है, परलोक में भी सद्‌गति प्राप्त करता है और परंपरा से शाश्वत अजरामर मोक्ष पद प्राप्त करता है । कल्पवृक्ष के पास तो मांगने पर ही फल की प्राप्ति होती है, जबकि जिनधर्म तो एक ऐसा कल्पवृक्ष है, जिसके पास कुछ भी मांगने की जरूरत नहीं रहती है ।

जो व्यक्ति निष्काम भाव से धर्म आराधना करता है उसे यह धर्म ज्यादा ही फल देता है ।

श्रीपाल और मयणा ने लेश भी अपेक्षा बिना नवपद की आराधना की थी, उस आराधना के फलस्वरूप उन्हें उस भव में संसार के उच्च भोग-सुख, राज्य-ऋद्धि और समृद्धि की प्राप्ति हुई । समाधिपूर्वक कालधर्म प्राप्त कर वे परलोक में भी देवगति को प्राप्त हुए । निरंतर 9 भवों तक मनुष्य और देव के भव को प्राप्त करते हुए वे नौवें भव में अजरामर मोक्षपद प्राप्त करेंगे । वास्तव में, जिनधर्म रूपी कल्पवृक्ष उन्हें अच्छी तरह से फला था । ऐसे आदर्शों को नजर समक्ष रखकर जिनाज्ञा पालन में प्रयत्नशील बनना चाहिये ।

धम्मो बंधू सुमित्तो य, धम्मो य परमो गुरु ।
मुक्खमग्ग पयट्टाणं, धम्मो परम-संदणो ।।101।।

शब्दार्थ

धम्मो=धर्म,	**परमो गुरु**=श्रेष्ठ गुरु,
बंधू=बंधु,	**मुक्खमग्ग**=मोक्ष मार्ग में,
सुमित्तो=सच्चा मित्र है,	**पयट्टाणं**=प्रवृत्ति व्यक्ति के लिए,
य=और,	**परम-संदणो**=श्रेष्ठ रथ है ।

अर्थ : धर्म बंधु और अच्छा मित्र है । धर्म परम गुरु है । मोक्षमार्ग में प्रवृत्त व्यक्ति के लिए धर्म श्रेष्ठ रथ है ।

विवेचन : जो आपत्ति में सहायता करता है, वह भाई और मित्र कहलाता है ।

वीतराग का धर्म हमारा सच्चा भाई और सच्चा मित्र है । मोक्षमार्ग की आराधना, साधना में यह धर्म ही मित्र बनकर आपत्ति से बचाता है ।

आत्मा के अज्ञान और मोह रूप अंधकार को दूर करनेवाले गुरु कहलाते हैं । वीतराग का यह धर्म परम गुरु है, जो हमें अज्ञान अंधकार से बचाता है ।

जिसे मोक्षमार्ग में आगे बढना हो, उसे धर्म रूपी रथ का आलंबन लेना चाहिए । यह धर्मरथ जीव को शीघ्र ही मोक्ष में पहुँचा देता है । इस धर्मरथ का आलंबन लेकर आजतक अनंतानंत आत्माओं ने शाश्वत अजरामर मोक्षपद प्राप्त किया है ।

इस जीवन में यह एक अमूल्य अवसर प्राप्त हुआ है-तुम धर्मरथ का आश्रय कर मोक्षमार्ग की ओर आगे बढ़ सकोगे ।

हमारी आत्मा का उद्धार करनेवाला एकमात्र धर्म ही हैं, अत: उसको क्या क्या उपमा दे ! वह तो हमारा सर्वस्व है । जिसे वीतराग का सच्चा धर्म मिल गया, उसे तो छह खंड के अधिपति चक्रवर्ती से भी बढकर सामग्री प्राप्त हुई है । धर्महीन चक्रवर्ती तो दया पात्र हैं, जब कि सद्धर्म युक्त गरीब भी धन्यवाद का पात्र है ।

हे जीव ! तुझे वीतराग का धर्म मिल गया, इससे बढकर तुम्हारा और क्या सौभाग्य हो सकता है । वीतराग का धर्म तो आत्मा की सच्ची संपत्ति दिलानेवाला है । उस धर्म की प्राप्ति के बाद थोडा भी प्रमाद करने जैसा नहीं है ।

चउगइऽणंत-दुहानल-पलित्त भवकाणणे महाभीमे ।
सेवसु रे जीव ! तुमं, जिणवयणं अमियकुंडसमं ।।102।।

शब्दार्थ

चउगइ=चार गति रुप,	**सेवसु**=सेवन कर,
ऽणंत-दुहानल=अनंत दु:ख की अग्नि में,	**रे जीव !**=हे जीव, **तुमं**=तूं,
पलित्त=जलते हुए,	**जिणवयणं**=जिनेश्वर के वचन को,
भवकाणणे=भव वन में,	**अमियकुंडसमं**=अमृत से भरे कुंड
महाभीमे=महा भयंकर,	के समान ।

अर्थ : हे जीव ! चार गति रूप अनंत दु:ख की अग्नि में जलते हुए महाभयंकर भववन में अमृतकुंड के समान जिनवाणी का तू सेवन कर ।

विवेचन : अनेकविध उपमाओं के माध्यम से ग्रंथकार महर्षि इस भयंकर संसार से वैराग्य पैदा करा रहे हैं ।

प्रस्तुत गाथा में इस संसार को दावानल युक्त भयंकर जंगल की उपमा दी है । एक तो भयंकर जंगल है, जिसमें से पार होना बहुत ही मुश्किल कार्य है और उसमें भी उस जंगल में चारों ओर आग लग गई है । अब बचने के लिए कहाँ और किधर जाना ? यह एक सवाल पैदा हो गया है । बस, इस भीषण संसार से बचना हो तो मात्र एक ही उपाय है और वह है-जिनवचन रूपी अमृत के कुंड का आश्रय करना ।

जहाँ पानी होता है, वहाँ आग नहीं रह सकती ; जबकि वीतराग प्रभु के वचन तो अमृत के कुंड के समान हैं । इस कुंड का सेवन करनेवाला सदा-सर्वदा निर्भय बन जाता है ।

हे पुण्यात्मन् ! इस संसार की भयंकरता को तू बराबर समझ ले और उससे बचने के लिए जिनवचन का अमृत पान कर ।

सिंह राजा को जब उसका ही पुत्र आनंदकुमार मौत की धमकी देता हैं, तब सिंहराजा कहता हैं, 'मैंने जिन वचन का अमृत पान किया हैं, मुझे मृत्यु का कोई भय नहीं है ।'

संसार के भयंकर दु:खों में भी वही आत्मा निर्भय रह सकती है, जिसने जिन वचनों को अपने जीवन में घुंटा हैं । हे आत्मा ! तू प्रमाद छोड़कर जिन वचन के अमृतपान हेतु प्रयत्न-शील बन ।

संसार के ताप से संतप्त बनी आत्मा को जिन वचन को छोड़ अन्य कोई पदार्थ शांति देने में सक्षम नहीं है । बडे भाग्य से जिनवचन की प्राप्ति होती है । जब जिनवचन मिला हैं तो उसका लाभ उठा लेने जैसा है ।

विसमे भव-मरुदेसे, अणंत-दुह-गिम्ह-ताव-संतत्ते ।
जिण-धम्म-कप्प-रुक्खं, सरसु तुमं जीव सिवसुहदं ।।103।।

शब्दार्थ

विसमे भव=विषम ऐसे संसार रुपी, **मरुदेसे**=मरुदेश मे, **अणंत-दुह**=अनंत दु:ख रुपी, **गिम्ह-ताव-संतत्ते**=ग्रीष्म ऋतु के ताप से सतप्त,	**जिण-धम्म-कप्प-रुक्खं**=जिन धर्म रुपी कल्प वृक्ष को, **सरसु**=स्मरण करों, **तुमं**=तुम, **जीव**=हे जीव !, **सिवसुहदं**=शिव सुख को देनेवाले ।

अर्थ : हे जीव ! अनंत दु:ख रूप ग्रीष्म ऋतु के ताप से संतप्त और विषम ऐसे संसार रूप मरूदेश में शिवसुख को देनेवाले जिनधर्म रूपी कल्पवृक्ष को तू याद कर ।

विवेचन : मरुभूमि में वृक्षों का अभाव है, जहाँ वर्षा नहींवत् हो, वहाँ वृक्षों का अस्तित्व संभव नहीं है। इस कारण वहाँ गर्मी का प्रमाण भी अत्यधिक होता है, उसमें भी चैत्र-वैशाख में तो सूर्य आग के गोले की तरह तपता है। यह संसार भी भयंकर मरुभूमि की तरह है, जो अनंत दु:ख रूप ग्रीष्म के ताप से संतप्त है।

ऐसे भयंकर संसार में जीवात्मा को सुख शांति कहाँ से मिले !

परंतु हाँ ! इस संसार में शाश्वत मोक्षसुख को प्रदान करनेवाला जिनधर्म रूपी कल्पवृक्ष है। उस कल्पवृक्ष का तुम स्मरण करो, आश्रय करो।

युगलिक क्षेत्र और युगलिक काल में पैदा होनेवाला कल्पवृक्ष तो सिर्फ भौतिक और इहलौकिक कामनाओं को ही पूर्ण करने में समर्थ है जबकि यह जिनधर्म रूपी कल्पवृक्ष तो आत्मा को शाश्वत सुख प्रदान करने में सक्षम है। मोक्ष में जो सुख है, उस सुख के अनंतवें भाग जितना भी सुख इस संसार में नहीं है, अत: तू इस जिनधर्म रूपी कल्पवृक्ष को छोड़कर अन्यत्र क्यों भटक रहा है ?

भूतकाल में जिन जिन आत्माओं ने जिन धर्म की शरण स्वीकार की, वे सभी पूर्ण सुख के भोक्ता बने और जिन्होंने जिन धर्म की शरण स्वीकार न कर उसकी उपेक्षा की, वे सभी इस संसार में भटकते रहे है। अत: हे आत्मा ! यदि तू दु:ख से मुक्त होना चाहती है और परम सुख पाना चाहती है तो जिन धर्म की शरण स्वीकार कर, इसी में तेरा सच्चा हित रहा हुआ है। जिनधर्म को समझने के लिए जिनवाणी श्रवण में उद्यमशील बनना चाहिये।

किं बहुणा जिणधम्मे, जइयव्वं जह भवोदहिं घोरं ।
लहु तरिय मणंतसुहं, लहइ जिओ सासयं ठाणं ॥104॥

शब्दार्थ

किं बहुणा=ज्यादा कहेने से क्या ? **जिणधम्मे**=जिन धर्म में, **जइयव्वं**=यत्न करना चाहिए, **जह**=जिससे, **भवोदहिं घोरं**=भयंकर भवोदधि से, **लहु**=जल्दी ही, **तरिय**=पार कर, **मणंतसुहं**=अनंत सुख को, **लहइ**=प्राप्त करे, **जिओ**=यह जीव, **सासयं ठाणं**=शाश्वत स्थान, मोक्ष ।

अर्थ : ज्यादा कहने से क्या फायदा ! भयंकर ऐसे भवोदधि को सरलता से पारकर अनंत सुख का शाश्वत स्थान जिस प्रकार से प्राप्त हो, उस प्रकार से जिनधर्म में यत्न करना चाहिए ।

विवेचन : ग्रंथकार महर्षि ग्रंथ का समापन करते हुए कहते हैं कि अब ज्यादा कहने से क्या ! अनेकविध उपमाओं को द्वारा मैंने बहुत कुछ कह दिया है । अब इस संसार की भयानकता को तुम समझे हो तो जिनधर्म की आराधना में उद्यमशील बनों । इसी धर्म की आराधना से तुम इस संसार रूपी महासागर को शीघ्र ही पार कर सकोगे । इस भयंकर संसार के उस पार मोक्ष नाम का शाश्वत स्थान है । जो आत्मा इस संसार सागर को पार कर देती है, वह आत्मा मोक्ष में चली जाती है । मोक्ष यह आत्मा को सदाकाल रहने के लिए शाश्वत स्थल है । जहाँ जाने के बाद आत्मा को पुन: इस संसार में आने की आवश्यकता नहीं रहती है ।

'शक्रस्तव' में मोक्ष के स्वरूप का वर्णन करते हुए ठीक ही कहा है—**अपुणराविति सिद्धिगइ नामधेयं ठाणं**-मोक्ष अर्थात् जहाँ से कभी भी वापस लौटने का नहीं है । ऐसा पवित्र स्थल जहाँ आत्मा सादि अनंत काल के लिए अनंत सुख का अनुभव करती है ।'

संसार में सुख है, परंतु वह सादि-सांत है अर्थात् उस सुख का प्रारंभ है तो उस सुख का अंत भी है, जबकि मोक्ष के सुख का प्रारंभ है, परंतु उसका कहीं अंत नहीं है । मोक्ष में जो सुख है, वह सर्वथा बाधा से रहित है । जब कि संसार में जहां भी जो भी सुख हैं, वह क्षणिक और दु:खों से जुडा हुआ है । संसार के सभी सुख के आगे पीछे दु:ख खडा ही हैं, अत: वह सुख नहीं किंतु सुखाभास ही है ।

हिन्दी विवेचन समाप्त

अध्यात्मयोगी **पू. पन्यास प्रवर श्री भद्रंकरविजयजी गणिवर्य** के अंतिम शिष्य ***पंन्यास श्री रत्नसेनविजयजी*** (वर्तमान में **आचार्य श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा.**) ने फाल्गुण शुक्ला चतुर्दशी वि.सं. 2066 के शुभ दिन स्व-पर कल्याण की कामना से इस ग्रंथ का हिन्दी विवेचन समाप्त किया ।

जैन हिन्दी साहित्य दिवाकर, मरुधररत्न, पू.आचार्यदेव श्रीमद् विजय रत्नसेनसूरीश्वरजी म.सा. द्वारा मुख्यतया हिन्दी भाषा में आलेखित 237 पुस्तकों में से उपलब्ध एवं अवश्य पठनीय साहित्य-सूची

Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य	Sr. No.	पुस्तक का नाम	मूल्य
1.	चिंतन का अमृत-कुंभ	80/-	38.	गणधर-संवाद	80/-
2.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-1)	100/-	39.	आओ ! उपधान पौषध करें !	55/-
3.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-2)	100/-	40.	नवपद आराधना	80/-
4.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-3)	125/-	41.	संस्मरण	50/-
5.	पंच-प्रतिक्रमण (भाग-4)	135/-	42.	भव आलोचना	10/-
6.	आओ संस्कृत सीखें भाग-1	150/-	43.	बीसवी सदी के महान योगी	300/-
7.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-1	125/-	44.	परम-तत्व की साधना भाग-3	160/-
8.	आओ ! प्राकृत सीखें भाग-2	85/-	45.	आध्यात्मिक पत्र	60/-
9.	विविध-तपमाला	100/-	46.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-1	125/-
10.	विवेकी बनो	90/-	47.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-2	175/-
11.	प्रवचन-वर्षा	60/-	48.	आत्म-उत्थान का मार्ग-भाग-3	150/-
12.	आओ श्रावक बनें !	25/-	49.	श्री नमस्कार महामंत्र	180/-
13.	व्यसन-मुक्ति	100/-	50.	महामंत्र की अनुप्रेक्षाएँ	150/-
14.	श्रावक जीवन दर्शन	250/-	51.	नमस्कार मीमांसा	150/-
15.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (1 से 9)	300/-	52.	आठ कर्म निवारण पूजाएं	200/-
16.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (10 से 40)	275/-	53.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-1	200/-
17.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (41 से 57)	275/-	54.	तत्त्वार्थ-सूत्र-भाग-2	200/-
18.	महावीर प्रभु की पट्टधर-परंपरा (58 से 80)	280/-	55.	सज्झायों का स्वाध्याय	100/-
19.	सात वासुदेव-प्रतिवासुदेव बलदेव	50/-	56.	वैराग्य-वाणी	140/-
20.	समाधि मृत्यु	80/-	57.	सम्यग्दर्शन का सूर्योदय	160/-
21.	Pearls of Preaching	60/-	58.	श्रमण क्रिया के मुख्य सूत्र	200/-
22.	New Message for a New Day	600/-	59.	कल्पसूत्र के हिन्दी प्रवचन	240/-
23.	Celibacy	70/-	60.	पर्युषण अष्टाह्निका प्रवचन	120/-
24.	Panch Pratikraman Sootra	100/-	61.	आओ ! पर्युषण प्रतिक्रमण करें !	150/-
25.	अमृत रस का प्याला	300/-	62.	प्रतिक्रमण उपयोगी संग्रह	80/-
26.	ध्यान साधना	40/-	63.	जीवन झांकी	अमूल्य
27.	आग और पानी-भाग-1-2	115/-	64.	मन के जीते जीत है	80/-
28.	शांत सुधारस-हिन्दी -भाग-1-2	140/-	65.	प्रातः स्मरणीय महापुरुष भाग-1	300/-
29.	शत्रुंजय यात्रा (तृतीय आवृत्ति)	40/-	65.	प्रातः स्मरणीय महापुरुष भाग-2	300/-
30.	प्रेरक-प्रवचन	80/-	67.	प्रातः स्मरणीय महासतियाँ भाग-1	280/-
31.	जीव विचार विवेचन	100/-	68.	प्रातः स्मरणीय महासतियाँ भाग-2	300/-
32.	नवतत्त्व विवेचन	110/-	69.	इन्द्रिय पराजय शतक	150/-
33.	दंडक सूत्र विवेचन	90/-	70.	संबोह-सित्तरि (वैराग्य का अमृत कुंभ)	160/-
34.	लघु संग्रहणी	140/-	71.	आनन्दघन चौबीसी विवेचन	200/-
35.	तीन भाष्य (हिन्दी विवेचन)	150/-	72.	वैराग्य-शतक	140/-
36.	कर्मग्रंथ (भाग-1)	160/-	73.	परमेष्ठि-नमस्कार	180/-
37.	दूसरा-तीसरा कर्मग्रंथ	55/-			

पुस्तक प्राप्ति स्थान : दिव्य सन्देश प्रकाशन C/o. सुरेन्द्र जैन, Office No. 304, 3rd Floor, बे व्यु बिल्डींग, विंग-ईस्ट बे, डॉ. एम.बी. वेलकर स्ट्रीट, कालबादेवी, मुंबई-400 002. M. 8484848451 (only whatsapp)

Kamal PRINTER'S
M. 9820530299